॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

११७



श्रीपुष्पदन्तप्रणीतं

महिम्नस्तोत्रम्

श्रीमधुसूदनीटीका-तदार्यभाषानुवादसहितम्



चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला
११७

महिम्नस्तोत्रम्

श्रीमधुसूदनीटीका-तदार्यभाषा-नुवादसहितम्

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 320404

पुनर्मुद्रित 2001 ई.
मूल्य : 30.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 3956391



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 335263

धन्यवाद ।

पूर्वप्रकाशित अद्वैतसंग्रह तथा अद्वैतामृत के अनुवादकर्त्ता, श्रीयुत ब्रह्मचारी चेतनस्वरूप जी महाराज (पण्डित रलाराम शर्म्मा) ने इस महिम्नस्तोत्र की श्री मधुसूदनी टीका का आर्यभाषा में परोपकारबुद्ध्या अनुवाद करके मुझ पर अनुग्रह किया है अतएव वे धन्य हैं।

रामचन्द्र ।

निवेदन ।

स्तोत्र के आरम्भ में उच्चरित षष्ठयन्त 'महिम्नः' पद के विसर्ग का लोप करके इस स्तोत्र की 'महिम्न' पारिभाषिक संज्ञा है । श्रीपुष्पदन्त या कुसुमदशन नामक गन्धर्वराज ने इस स्तोत्र की रचना की है, जो महानुभाव पद-वाक्य-प्रमाणपारावारीण हैं, तथा श्रीव्यासमुनिप्रणीत श्रीमद्भागवत-शिवपुराण आदि पावन ग्रन्थों को पारायण करने से जिनके हृदयह्रद में भक्ति तथा ज्ञान का अमृतमय स्रोत बह रहा है अतएव जो हृदयवान् हैं, वे सज्जन महिम्नस्तोत्र का श्रवण आदि करके जो आनन्दानुभव करते हैं, वह आनन्द सर्वसाधारण को मिलना सर्वथा असम्भव है, परन्तु मन्द अधिकारियों को अतिरहस्यार्थ समझाने के लिए मुनिवर श्री १०८ मधुसूदन स्वामी जी महाराज ने संस्कृत भाषा में एक अत्यन्त सुन्दर टीका लिखी जिसकी स्तुति करना सूर्य्य को दीपक से दिखाने के समान है । जो लोग संस्कृत भाषा को समझते हैं वही उसके महत्त्व को समझ सकते हैं, इससे बढ़ कर और कोई टीका संस्कृत भाषा में अन्य कोई पुरुष लिख नहीं सकेगा । परन्तु जो लोग संस्कृत भाषा नहीं जानते हैं वे इस टीका से भी वञ्चित हैं, उनके लिए इस श्रीमधुसूदनी टीका का हिन्दी भाषा में अनुवाद करके प्रकाशन किया जाता है । कठिन शब्दों तथा संस्कृत वाक्यों का अर्थ और अन्यान्य अभिप्राय आदि, कोष ( ), में दिखाया गया है—अतः यद्यपि रचना कहीं कहीं अप्रसन्न सी हो गई है तथापि कोषान्तर्गत लेखको छोड़ कर पढ़ने से शाब्दबोध शीघ्र ही हो जायगा । संस्कृत टीका के अनुरोध से इस पद्धति का अनुसरण किया गया है, अतः पाठक सावधान होकर पूर्वापर का विचार करके आर्यभाषानुवाद को पढ़ें । मनुष्यस्वभावसुलभ दोषों को क्षमा करें ।

रामचन्द्र ।

ॐ

श्रीपुष्पदन्तविरचितं

महिम्नस्तोत्रम् ।

श्रीमधुसूदनीटीकातदनुवादसहितम् ।



विश्वेश्वरं गुरुं नत्वा महिम्नाख्यस्तुतेरयम् ।
पूर्वाचार्य्यकृतव्याख्यासंग्रहः क्रियते मया ॥

श्री विश्वेश्वर नामक गुरु को नमस्कार करके मैं (मधुसूदन सरस्वती) महिम्न नामक स्तोत्र पर पूर्वाचार्य्यों की रचना की हुई व्याख्याओं का संग्रह करता हूं ।

एवं किलोपाख्यायते—कश्चित्किल गन्धर्वराजः कस्यचिद्राज्ञः प्रतिदिनं प्रमदवनकुसुमानि हरन्नासीत् । तज्ज्ञानाय शिवनिर्माल्यलङ्घनेन मत्पुष्पचौरस्यान्तर्धानादिका सर्वापि शक्तिर्विनङ्क्ष्यतीत्यभिप्रायेण राज्ञा शिवनिर्माल्यं पथि निक्षिप्तम् । तदप्रतिसंधाय च गन्धर्वराजस्तत्र प्रविशन्नेव कुण्ठितशक्तिर्बभूव । ततश्च शिवनिर्माल्योल्लङ्घनेनैव ममैतादृशं वैक्लव्यमिति प्रणिधानेन विदित्वा परमकारुणिकं भगवन्तं सर्वकामदं तमेव तुष्टाव ।

ऐसा उपाख्यान प्रसिद्ध है कि कोई गन्धर्वराज प्रतिदिन किसी राजा के प्रमदवन (रानियों के बाग) के फूलों को चुरा कर ले जाया करता था, उस पुष्पचोर को जानने के लिये "शिवनिर्माल्य के लाँघने से चोर की अन्तर्धान आदिक सब शक्ति विनष्ट हो

जायगी"—इस अभिप्राय से राजा ने मार्ग में शिवनिर्माल्य को बखेर दिया, उस शिवनिर्माल्य को न जानता हुआ गन्धर्वराज उस पुष्पवाटिका में प्रवेश करते ही कुण्ठितशक्ति हो गया, तदनन्तर "शिवनिर्माल्य का उल्लङ्घन करने से ही मेरा ऐसा शक्तिनिरोध हुआ है"—यह बात समाधिद्वारा जान कर सर्व कामनाओं को देने वाले परमकारुणिक भगवान् महादेव की ही स्तुति करने लगा। प्रतिमा से उतरे हुए फूल माला आदि को 'निर्माल्य' कहते हैं।

ननु स्तुतिर्नाम गुणकथनं, तच्च गुणज्ञानाधीनम्, अज्ञातस्य तस्य कथनासंभवात्, तथाच भगवतो गुणानामनन्तत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्कथं तत्कथनरूपा स्तुतिरनुरूपा भवेत्, अननुरूपकथनं चोपहासायैवेति या शङ्का तदपनोदनव्याजेन स्वस्यानौद्धत्यं दर्शयन्नेव भगवन्तं स्तोतुमारभते—

गुणकथन को स्तुति कहते हैं, और गुणकथन गुणज्ञान के अधीन है क्योंकि अज्ञात गुण का कथन नहीं हो सकता, तथाच भगवान् के गुण अनन्त होने से जाने नहीं जा सकते, अतः भगवान् की गुणकथनरूप अनुरूप (रूप के योग्य) स्तुति कैसे हो सकती है ? और अननुरूप (रूप के अयोग्य) कथन उपहास का ही हेतु है—इस शङ्का के खण्डन के मिष से गन्धर्वराज श्री पुष्पदन्त महाराज अपने गर्व का अभाव दिखाते हुए भगवान् की स्तुति आरम्भ करते हैं :—

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः ।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृण-
न्ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ॥१॥

महिम्नः पारमिति । हे हर, सर्वाणि दुःखानि हरतीति हरः । योग्यं

संबोधनम् । सर्वदुःखहरत्वेनैव प्रसिद्धोऽसि, न मम दुःखहरणे पृथग्व्यापारं करिष्यसीत्यभिप्रायः । हे सर्वदुःखहर, ते तव महिम्नः परं पारमवधिमविदुषः एतावानेव महिमेतीयत्तयाऽजानतः। कर्तृत्वसंबन्धे षष्ठी । अजानत्कर्तृका स्तुतिर्यद्यसदृश्यननुरूपा । अयोग्येति यावत् । तर्हि ब्रह्मादीनां सर्वज्ञानामपि गुणकथनरूपा गिरस्त्वयि विषयेऽवसन्नाः। अयोग्या एवेत्यर्थः । तैरपीयत्तयाऽज्ञानात्। इयत्ताया असत्त्वेन तदज्ञाने सार्वज्ञ्यव्याघातोऽपि न । सन्मात्रविषयत्वात्सर्वज्ञत्वस्य। अन्यथा भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । तथाच श्रीभागवते–'विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि' इति । अथेति पक्षान्तरे । यद्येवं ब्रूषे तर्हि स्वमतिपरिणामवधि स्वस्य मतिपरिणामं बुद्धिविषयता स एवाऽवधिर्यत्रेति क्रियाविशेषणम् । स्वबुद्ध्या यावद्विषयीकृतं तावद्गृणन् वाक्स्फूर्तिसाफल्याय कथयन्सर्वोऽपि स्तोताऽवाच्योऽनुपालम्भनीयः । 'सा वाग्यया तस्य गुणान्गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च । जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः' इति च श्रीभागवतवचनात् । तर्हि 'नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः' इति न्यायेन ममाप्येष परिकर आरम्भः स्तोत्रे स्तोत्रविषये निरपवादोऽखण्डनीयः । स्वबुद्ध्यनुसारेण योग्य इत्यर्थः । प्रथमार्धेन स्तुतिनिराकरणव्याजेन सर्वदुरधिगममहिमत्वरूपा महती स्तुतिः कृता, उत्तरार्धेन स्तुतिसमाधानव्याजेन सर्वा स्तुतिरनुरूपेति महत्कौशलम् । अन्यच्च गन्धर्वराजस्य महाकुशलत्वादेकेनैव श्लोकेन यथाश्रुति वक्ररीत्या च हरिशंकरयोः स्तुतिस्तयोरभेदज्ञानायाभिप्रेता । तत्र हरपक्षे यथाश्रुति व्याख्यातं, हरिपक्षेऽपि तदेव योजनीयम् । संबोधनपदं तु अहरेति । हरतीति हरः संहर्ता तद्विरुद्धोऽहरः । पालयितेत्यर्थः ।

हे हर ! (आप सर्व दुःखों को हरण करते हैं अतः आप 'हर' हैं, यह सम्बोधन आप के योग्य ही है तथा "आप सर्व दुःख नाशक हैं"—ऐसी आप की प्रसिद्धि है, अतः मेरे दुःख को नष्ट करने के लिये आप को कोई पृथक् व्यापार नहीं करना पड़ेगा) हे सर्वदुःखहर ! आप की महिमा की परम सीमा (आप 'इतने

बड़े हैं'—इस प्रकार आप की महिमा) को न जानने वाले मनुष्य से की गई आपकी स्तुति यदि अयोग्य है तब ब्रह्मा आदि सर्वज्ञों की भी गुणकथन रूप वाणी आप के विषय में अयोग्य ही है, क्योंकि आप के परिमाण की सीमा को वे भी नहीं जानते हैं, भगवान् के परिमाण की कोई अवधि नहीं है, अतः उसे न जानने से ब्रह्मा आदि की सर्वज्ञता की हानि भी नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञता विद्यमानवस्तुमात्रविषयक है, अन्यथा अविद्यमान वस्तु को जानने से वे भ्रान्त हो जायँगे। श्रीमद् भागवत में कहा है कि "जिस परमात्मा ने पृथिव्यादि के सूक्ष्म रजःकणों तक की रचना की है उस विष्णु भगवान् की गुणगणना कौन कर सकता है ?" यदि ऐसा कहो कि जितना जिसकी बुद्धि में आये, वाक्सृष्टि के साफल्य के लिये उतना ही गुणकीर्त्तन करता हुआ पुरुष उपालम्भ (उलाहने) का भागी नहीं है तो "नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणस्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः।" (जैसे पक्षी आकाश में अपनी शक्ति अनुसार उड़ान भरते हैं ऐसे ही विद्वान् लोग अपनी शक्ति के अनुसार विष्णु भगवान् की लीला का वर्णन करते हैं।) श्रीमद्भागवत-गत श्री सूत से कहे गये इस न्यायानुसार मेरा भी स्तुतिविषयक यह प्रयत्न अपवादशून्य है, अर्थात् अपनी बुद्धि के अनुसार उचित ही है। श्रीमद्भागवत में कहा है कि "हे सूत ! पुरुष जिस वाणी से उस भगवान् के गुणों का कीर्त्तन करता है वही वाणी वाणी है, जो हाथ भगवान् का कर्म करते हैं और जो मन उन्हीं का मनन करता है वही हाथ और मन श्लाघायोग्य हैं, जो जिह्वा श्री विष्णु की गाथाओं को गान नहीं करती वह मेण्डक की जिह्वा के समान है।" श्लोक के पूर्वार्द्ध से स्तुतिखण्डन के व्याज से "भगवान् की महिमा का कोई पार नहीं पा सकता"—इस प्रकार महास्तुति करके, उत्तरार्द्ध से स्तुतिसमाधान के मिष से सब स्तुति युक्त हैं—

ऐसा अपूर्व कथन महाकौशल है। और गन्धर्वराज के महाकुशल होने के कारण एक ही श्लोक से यथाश्रुति और वक्ररीति से हरि और शङ्कर दोनों की स्तुति करने का अभिप्राय उनके अभेद बोधन में है। शिवपक्ष में श्लोक का यथाश्रुति व्याख्यान हो चुका। हरिपक्ष में भी अभिप्राय उसी प्रकार प्रायः जानना चाहिए, विशेष अर्थ कहते हैं। हरिपक्ष में 'अहर' ऐसा सम्बोधन पद है, जो सब का हरण अर्थात् संहरण करे उसे 'हर' और उससे विरुद्ध को अहर (अर्थात् पालक) कहते हैं, हे अहर ! हे पालक !

अथवाऽहः अहो परम परामा लक्ष्मीर्यस्येति तथा हे लक्ष्मीपते। लक्ष्मीपतित्वान्ममालक्ष्मीं स्वत एव नाशयिष्यसीति योग्य संबोधनम्। यदि ते महिम्नः त्वन्महिमसंबन्धिनी त्वन्महिमविषया स्तुतिः। गिरो महिम्न इति योजनापेक्षया ते स्तुतिरित्येव समीचीनम्, तर्हि अत्रसन्नाऽलेशा असदृशयनुरूपाप्यस्तु, नत्वन्यदेवतानामनल्पाऽनुरूपापि। अत्र हेतुगर्भं विशेषणम्। तत्र कीदृशस्य। ब्रह्मादीनां स्तावकानां गिरः स्तुतिरूपायाः पारं विदुषः। स्तोतुः श्रमं स्तुतेगुणदोषौ च जानत इत्यर्थः। सर्वदेवस्तुत्यत्वेन निरतिशयसार्वज्ञ्येन च तवैव सर्वोत्कृष्टत्वादित्यभिप्रायः। स्तुतिफलं दर्शयन् स्वस्य विनयातिशय दर्शयितुमाह। अथ स्वं त्वां अतिपरिणामावधि अतिक्रान्तो बुद्धिपरिपाकावधिः सीमा यत्र तादृशं यथा स्यात्तथा स्वशक्तिमतिक्रम्यापि गृणन्स्तुवन् सर्वोऽपि जनः अवाच्य आभिमुख्येन वाच्यः। संभाषणीयस्त्वयेत्यर्थः। यस्मादेवं सर्वथैवानुगृह्यते त्वया स्तोता अतएव ममापि स्तोत्रे स्तुतिकर्त्रे एषः परिकरो नमस्कारादिप्रबन्धः। कीदृशः। अनिरपवादः न विद्यतेऽतिशयेनापवादो दूषणं यस्मात्स तथा। अहरिति वीप्सनीयम्। अहरहः सर्वदेत्यर्थः। यद्विषयकस्तुतिकर्तृत्वेनान्योऽपि सर्वदा नमस्यः किमु वक्तव्यं स सर्वदा सर्वेषा नमस्यतरो भवतीति भगवति रत्यतिशयो व्यज्यते। एवं यस्यायोग्यापि स्तुतिः सान्निध्यफला तस्य योग्या स्तुतिः किं वा न फलिष्यतीति ध्वनितम्। हरपक्षेऽप्येवम्। तत्र परम श्रेष्ठेति संबोधनम् ॥ १ ॥

अथवा अह:=अहो, सम्बोधनसूचक अव्यय है। अहो परम! 'परा'=सब से उत्तम है 'मा'=लक्ष्मी जिस की उसे 'परम' कहते हैं। अहो परम! हे लक्ष्मीपते! (आप लक्ष्मीपति हैं अतः अपने आप ही मेरी अलक्ष्मी को नष्ट करेंगे—इस अभिप्राय से यह सम्बोधन योग्य है) यदि आप की महिमा का कीर्त्तन थोड़ा और अननुरूप (रूप के अयोग्य) भी हो तो भी वह श्रेष्ठ है, परन्तु अन्य देवता का बहुत और अनुरूप कीर्त्तन अच्छा नहीं, क्योंकि आप ब्रह्मा आदि स्तुतिकर्त्ताओं की स्तुति रूप वाणियों के अन्त को जानते हैं अर्थात् स्तोता के श्रम और स्तुति के गुण दोष को पहचानते हैं, सब देवों से स्तुति किये जाने योग्य हैं और निरतिशय सर्वज्ञता के कारण आप ही सब से उत्कृष्ट हैं। स्तुति का फल दिखाते हुए तथा अपना अत्यन्त विनय प्रकाशन करते हुए गन्धवराज कहते हैं कि जो पुरुष अपनी शक्ति से बढ़ कर भी आत्मीय (आत्मसम्बन्धी जो आप हैं ऐसे) आप की स्तुति करता है उसके साथ आप अच्छे प्रकार संभाषण करते हैं, जब आप इस प्रकार अपने स्तोता पर सर्वथा अनुग्रह करते ही हैं तब मुझ स्तुतिकर्त्ता के लिये भी यह नमस्कारादि प्रबन्ध ('अहर' इसको दो बार पढ़ो अहरहः) सर्वदा अपवाद शून्य है। जिसकी स्तुति करने वाला साधारण पुरुष भी नमस्कार के योग्य है, वह परमात्मा अत्यन्त नमस्कार के योग्य है—इसका तो कहना ही क्या है!—इस प्रकार भगवान् में अतिशय भक्ति व्यङ्ग्या (व्यञ्जनावृत्ति से बोधित अर्थ) है, तथा जिस परमात्मा की अयोग्य स्तुति भी उसके समीप ले जाने वाली है उसकी योग्य स्तुति कौनसा फल न फलेगी? यह ध्वनि है। शिवपक्ष में भी यही अर्थ समझना चाहिए, शिवपक्ष में '(परम!) श्रेष्ठ!' यह सम्बोधन है ॥ १ ॥

पुनरप्यस्तुत्यत्वेनैव भगवन्तं स्तौति पूर्वोक्तं स्वस्य ब्रह्मादिसाम्यमुपपादयन्—

अपने विषय में पूर्वोक्त ब्रह्मा आदि की समता को युक्ति पूर्वक कथन करते हुए 'आप अस्तुत्य (स्तुति के अविषय) हैं'— इस प्रकार गन्धर्वराज फिर भगवान् की स्तुति करते हैं :—

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥२॥

अतीत इति । पूर्वोक्तं संबोधनमावर्तनीयम् । तव महिमा सगुणो निर्गुणश्च वाङ्मनसयोः पन्थानं विषयत्वमतीतोऽतिक्रान्तः । चशब्दोऽवधारणे । अतीत एवेत्यर्थः । अनन्तत्वान्निर्धर्मकत्वाच्च । तथाच श्रुतिः 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति । वागविषयत्वे तत्र श्रुतेः प्रामाण्यं न स्यादित्याशङ्क्याह । यं श्रुतिरप्यपौरुषेय्यपि वेदवाणी चकितं भीतं यथा स्यात्तथा अभिधत्ते तात्पर्येण प्रतिपादयति । सगुणपक्षे किंचिदप्ययुक्त माभूदिति, निर्गुणपक्षे तु स्वप्रकाशस्यान्याधीनप्रकाशता मा भूदिति भयम् । केन प्रकारेण । अतद्व्यावृत्त्या, सगुणपक्षे न तद्व्यावृत्तिरतद्व्यावृत्तिस्तया । अभेदेनेत्यर्थः । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादिना सर्वाभेदेनैव भगवन्तं प्रतिपादयति न त्वेकैकशो महिमानं वदतीत्यर्थः । निर्गुणपक्षे तु न तव अतत् । अविद्यातत्कार्यात्मकमुपाधिद्वयमिति यावत् । तद्व्यावृत्त्या तत्परित्यागेन जहदजहल्लक्षणयेत्यर्थः । मायाविद्योपहितचैतन्यशक्तं तत्पदं तत्कार्यबुद्ध्याद्युपहितचैतन्यशक्तं त्वंपदमुपाधिभागत्यागेनानुपहितचैतन्यस्वरूपं स्वप्रकाशमपि तदाकारवृत्तिमात्रजननेनाविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या बोधयतीवेति न तावता वाग्विषयत्वं मुख्यं तस्येत्यर्थः । अतएव स तादृशः सगुणो निर्गुणश्च महिमा कस्य

स्तोतव्यः। कर्त्तरि षष्ठी। न केनापि स्तोतुं शक्य इत्यर्थः। सगुणस्य स्तोतव्यत्वाभावे हेतुमाह। कतिविधगुणः कतिविधा अनेकप्रकारा गुणा यत्र स तथा। अनन्तत्वादेव न स्तुत्यर्ह इत्यर्थः। निर्गुणस्य स्तोतव्यत्वाभावे हेतुमाह। कस्य विषय इति। न कस्यापि विषयः निर्धर्मकत्वात्। अत एवाविषयत्वान्न स्तुत्यर्ह इत्यर्थः। सगुणो ज्ञेयत्वेऽप्यनन्तत्वात् निर्गुणस्त्वेकरूपोऽपि ज्ञेयत्वाभावान्न स्तुत्यश्चेत्तर्हि स्वमतिपरिणामावधि गृणन्निति पूर्वोक्तं विरुद्धयेतेत्यत आह—पदे त्विति। अर्वाचीने नवीने भक्तानुग्रहार्थं लीलया गृहीते रूपमविना रूपानन्त्यादिविशिष्टे रूपे कस्य विदुषो मनो न पतति नाविशति. कस्य वचो नाविशति। अपितु सर्वस्यापि मनो वचश्च विशतीत्यर्थः। तत्र हिरण्यगर्भस्यास्मदादेश्च सममेव स्तुतिकर्तृत्वमिति न पूर्वापरविरोधः॥ हरिपक्षेप्येवम्।

हे हर! आप के अनन्त तथा सर्वधर्मरहित होने के कारण आप की सगुण और निर्गुण महिमा, वाणी और मन का विषय नहीं है। इसी प्रकार श्रुति में भी कहा है कि "मन सहित वाणी आदि इन्द्रिय उस परमात्मा को न पा कर लौट आते हैं"। यदि कहो कि "वाणी का अविषय होने से श्रुति की भी प्रमाणता न रहेगी?" तो इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि श्रुति (अपौरुषेयी=पुरुष से न बनाई हुई वेदवाणी) भी भयभीत हो कर "अतद्व्यावृत्त्या" आप के विषय में अपना तात्पर्य प्रतिपादन करती है। 'सगुणपक्ष में कुछ अयुक्त वर्णन न हो जाय और निर्गुणपक्ष में स्वप्रकाश परमात्मा अन्य के अधीन प्रकाश वाला न हो जाय'—यही श्रुति के भय का आकार है।

सगुणपक्ष में अतद्व्यावृत्त्या (अभेदेन) 'यह सब जगत् ब्रह्मरूप है', 'ब्रह्म सर्व कर्मों और सर्व कामनाओं वाला है'—इस प्रकार सब के साथ आप का अभेद प्रतिपादन करती है, निर्गुणपक्ष में अविद्या और अविद्या के कार्य्यरूप उपाधिद्वय के परित्याग-

पूर्वक जहद्‌जहल्लक्षणा (भागत्याग लक्षणा) से आप को बोधन करती है। मायोपहित चैतन्य तत्पद का शक्य अर्थ है, माया के कार्य बुद्धि आदि से उपहित चैतन्य त्वं पद का शक्य अर्थ है। माया तथा माया के कार्य्य (बुद्धि आदि) रूप उपाधिद्वय से रहित शुद्ध चैतन्य-स्वरूप स्वप्रकाश आत्मा को भी 'आत्मा सर्वोपाधि शून्य है'—इत्याकारक वृत्ति को उत्पन्न करके, अविद्या तथा अविद्याकार्य्य रूप उपाधिद्वय की निवृत्ति द्वारा बोधन करती हुई सी श्रुति प्रतीत होती है, इतने मात्र से आप पर मुख्य वाणी की विषयता नहीं आती। अतएव आपकी सगुण और निर्गुण महिमा की स्तुति कौन कर सकता है? आपके सगुणरूप की स्तुति इस लिये नहीं हो सकती, क्योंकि आप अनन्त गुणों वाले हैं। और आपका निर्गुण स्वरूप तो किसी प्रमाण का विषय ही नहीं है फिर उसकी स्तुति कैसे हो सकती है? (शङ्का) यदि सगुण परमात्मा ज्ञेय होने पर भी अनन्त होने के कारण, और निर्गुण परमात्मा एक रूप वाला होने पर भी अज्ञेय (ज्ञान का अविषय या अज्ञान का विषय) होने के कारण स्तुति के योग्य नहीं है तो "अपनी बुद्धि के अनुसार कथन करता हुआ कोई पुरुष भी दोष का भागी नहीं हो सकता" इत्यादि पूर्वोक्त स्ववचन से विरोध होगा—इस शङ्का के समाधान में श्री पुष्पदन्त कहते हैं 'पदेत्विरत्थादि', भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये लीलामात्र से धारण किये हुए बैल, धनुः पार्वती आदि से युक्त आपके नवीन स्वरूप में किसकी वाणी और मन का प्रवेश नहीं है? अर्थात् उस रूप की तो सभी स्तुति कर सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा आदि के समान हम भी स्तुति कर सकते हैं अतः किसी प्रकार का पूर्वापर विरोध नहीं है। हरिपक्ष में भी यही अर्थ है।

अथवा यं श्रुतयास्त्या कार्यप्रपञ्चभेदाचकितं भीत मद्भिन्नत्वेन कार्य-

प्रपञ्चं मा पश्यत्विति शङ्कमानं श्रुतिरभिधत्ते इति पूर्ववत् । अर्वाचीने पदे तु कमलकम्बुकौमोदकीरथाङ्गकमलालयाकौस्तुभाद्युपलक्षिते नवजलधरश्यामधामनि श्रीविग्रहे वैकुण्ठवर्तिनि वेणुवादनादिविविधविहारपरायणे गोपकिशोरे वा वृन्दावनवर्तिनि कस्य मनो नापतति, कस्य वचश्च नापतति । अपगता ततिर्विस्तारो यस्मात्तदपतति । संकुचितमित्यर्थः । तत्र श्रीविग्रहानुचिन्तने तद्गुणानुकथने च विषयान्तरपरित्यागेन विलीयमानावस्थं मनो वचश्चैकमात्रविषयतया संकुचितं भवति । तत्र श्रीविग्रहे एवासक्तं भवतीति भावः ॥ २ ॥

अथवा (अतद्व्यावृत्त्या) "कोई पुरुष कार्य्यप्रपञ्च को मुझ से भिन्न न समझे"—इस प्रकार की आशङ्का से युक्त उस परमात्मा को श्रुति वर्णन करती है, अर्थात् परमात्मा को द्वैत अत्यन्त असह्य है । कमल, शङ्ख, कौमोदकी (भगवान् की गदा का नाम है), चक्र, लक्ष्मी, कौस्तुभ आदि से उपलक्षित नवघनश्याम, श्री विष्णु, श्री विग्रह, वैकुण्ठवर्त्ती, वंशीवादन आदि नाना विहारों में तत्पर, वृन्दावनवर्त्ती गोपकिशोर के विषय में किस की वाणी और मन (नाप-तति) संकुचित नहीं होता ? अर्थात् आपके श्रीविग्रह के अनुचिन्तन और गुणानुकथन में अन्य सब विषयों को छोड़कर एकाग्रता को प्राप्त हुए मन और वाणी अवश्य लीन होते हैं ॥ २ ॥

नन्वेवं स्तुत्यत्वेऽपि हरिहरयोः सर्वज्ञयोरनभिनवया स्तुत्या न मनोरञ्जनं तद्विना न तत्प्रसादस्तं विना न फलमिति पुनरपि स्तुतेवैयर्थ्ये प्राप्ते सार्थक्यं दर्शयन्स्तौति—

यद्यपि भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये धारण किये हुए नवीन स्वरूप का आश्रयण करके भगवान् की स्तुति हो सकती है

तथापि श्रीहरि और महादेव दोनों ही सर्वज्ञ हैं, तुम जो कोई भी उनकी स्तुति करोगे उसे वे पहले से ही जानते हैं, अतः वह स्तुति जो उनके लिये नवीन नहीं है, वह उनके मनोरञ्जन का हेतु नहीं हो सकती, और जब तक उनका मनोरञ्जन न होगा तब तक वे प्रसन्न भी नहीं होंगे, और उनको प्रसन्नता बिना तुम्हारी स्तुति ही निष्फल होगी—इस प्रकार फिर स्तुति की निष्फलता प्राप्त होने पर श्री पुष्पदन्त महाराज अन्य प्रकार से स्तुति की सफलता दिखाते हुए भगवान् की स्तुति करते हैं:—

मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवत-
स्तव ब्रह्मन्किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम् ।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन्पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता ॥३॥

मध्विति । हे ब्रह्मन् विभो, सुरगुरोर्ब्रह्मणोऽपि वाग्वाणी तव किं विस्मयपदं चमत्कारकारणं किम् । किंशब्द आक्षेपे । नेत्यर्थः । तत्र हेतुगर्भविशेषणमाह । तव कीदृशस्य । वाचो वेदलक्षणा निर्मितवतो निःश्वासवदनायासेनाविर्भावितवतः । कीदृशीः । मधुवत्स्फीताः माधुर्यादिशब्दगुणालङ्कारविशिष्टत्वेन मधुराः । तथा परममृतं निरतिशयामृतवदत्यास्वाद्याम् । एतेनार्थगतमाधुर्यमुक्तम् । परमेश्वरवाचां शब्दार्थगतयोर्निरतिशयमाधुर्ययोरपि मिथस्तारतम्यं मध्वमृतशब्दाभ्यां द्योत्यते । अयं च वाचामुत्कर्षो महान् यत्र शब्दगुणालङ्कारातिशयं विनार्थगुणालङ्कारातिशय इति । यत्र हिरण्यगर्भस्य वाण्यपि न चमत्कारकारणं तत्र का वार्ताऽस्मदादिवाण्या इत्यर्थः । तर्हि किं स्तुत्येत्यत आह—मम त्वित्यादि । हे पुरमथन त्रिपुरान्तक, भवतो गुणकथनपुण्येन एतां स्वां वाणीं पुनामि निर्मलीकरोमीत्यभिप्रायेणैतस्मिन्नर्थे स्तुतिरूपे मम बुद्धिर्व्यवसितोद्यता नतु स्तुतिकौशलेन त्वां रञ्जयामीत्यभिप्रायेणेत्यर्थः । वाङ्नैर्मल्येन मनोनैर्मल्यं नान्तरीयकमिति स्तुतेः सार्थक्यमुक्तम् ॥

हरिपक्षेऽप्येवम् । मथ्यतेऽस्मिन्दध्यादीति मथनं गोकुलम्, अथवा मथ्यन्ते आपोऽमृतार्थमिति मथनः क्षीरोदः पुरं मन्दिरं गोकुलं क्षीरोदो वा यस्येति पुरमथनसंबोधनार्थः । सर्वमन्यत्समानम् ।

हे ब्रह्मन्! हे विभो! ब्रह्मा से की गई स्तुति भी क्या आपके लिये चमत्कार का कारण हो सकती है? (अर्थात् नहीं) क्योंकि आपसे निःश्वास के समान अनायास (बिना परिश्रम) ही उस वेदवाणी का प्रकाश हुआ है, जो वेदवाणी माधुर्य्य आदि शब्दगुणों तथा अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारों से अलङ्कृत होने के कारण मधु के समान मधुर है, और अत्युत्तम अमृत के समान अत्यन्त स्वादु है, अर्थात् अर्थगत माधुर्य्य आदि गुणों तथा अलङ्कारों से युक्त है। (यद्यपि परमेश्वर की वाणी में शब्द और अर्थ दोनों में निरतिशय (जिससे बढ़कर और कोई नहीं है) माधुर्य्य है, तथापि 'मधु' और 'अमृत' शब्द, शब्दगुणालङ्कार और अर्थगुणालङ्कार दोनों में परस्पर तारतम्य का बोधन करते हैं। परमेश्वर की वेदरूप वाणी में यह महान् उत्कर्ष (उत्तमता) है कि उसमें शब्दगुणालङ्कारों में उत्कर्ष के न होते हुए भी अर्थगुणालङ्कारों में उत्कर्ष है) तात्पर्य्य यह है कि जब हिरण्यगर्भ आदि की स्तुति भी आपके कौतुक का हेतु नहीं है तब मेरी स्तुति की तो कथा ही क्या है! (शङ्का) यदि ऐसा है तो प्रस्तुत (आरम्भ की गई इस) स्तुति से क्या लाभ? इस शङ्का के समाधान में कहते हैं, हे पुरमथन! हे त्रिपुरान्तक! आपके कीर्तन द्वारा उत्पन्न हुए पुण्य से मेरी वाणी निर्मल होगी—इस अभिप्राय से आप की स्तुति में मेरी बुद्धि उद्यत हुई है इस लिये नहीं कि स्तुतिकौशल से आप का मनोरञ्जन करूंगा। इस प्रकार वाणी की निर्मलता से मन की निर्मलता अवश्य ही होगी—यही स्तुति की सार्थकता है।

हरिपक्ष में भी इसी प्रकार अर्थ समझिए। हे पुरमथन!

पुर=मन्दिर, मथन=गोकुल या क्षीरसागर, (दही जिसमें मथा जाय, या अमृत के लिये जिसके जल बिलोए जाँय उसे गोकुल या क्षीरसागर रूप 'मथन' कहते हैं, अतः पुर है मथन जिन का वे विष्णु भगवान् 'पुरमथन' कहलाते हैं ।

अथवा हे ब्रह्मन्, वाचः सर्वस्या अपि परमममृतं -निरतिशयसारं निश्चयेन मितवतः सम्यगनुभूतवतः सुरगुरोः हिरण्यगर्भादिसर्वदेवतोपाध्यायस्य तव मधुस्फीता मधुरिम्णा व्याप्ता अन्तरा कटुत्वलेशेनापि रहिता वागपि वाग्देवता सरस्वत्यपि किं विस्मयपदम् । नेत्यर्थः । तस्या मद्वाचश्च महदन्तरमतिप्रसिद्धमेव । यद्यप्येवं तथापि त्वदिच्छयैव ममेयं प्रवृत्तिरित्याह—मम त्वेतामिति । निजगुणकथनपुण्येन ममत्वेतां ममत्वे वर्तमाना संसारसंसर्गकलुषितां वाणीं वाचं । एतस्य स्तुतिकर्तुरिति शेषः । पुनामि निष्कलुषां करोमीत्येतस्मिन्नर्थे हे पुरमथन, भवतो बुद्धिर्व्यवसिता यतोऽतोनायत्तैव मम प्रवृत्तिरित्यर्थः । श्रुतिश्च भवति 'एष उह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवासाधु कारयति यमधो निनीषते' इति । स्मृतिश्च 'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा' इति । तेन परमकारुणिकस्त्वं शरणागतत्राणीपावनपुण्यहेतुस्तुतितत्परं लोककर्तुं स्वयमेव प्रयतमानो यया कयापि स्तुत्या प्रसीदसीर्थः ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मन् ! प्राणिमात्र की वाणियों के परम अमृत (निरतिशय सार) का आपको अच्छे प्रकार अनुभव है, आप सुरगुरु (ब्रह्मा आदि सर्व देवताओं के उपाध्याय) हैं ऐसे आपके लिये मधुस्फीता (जिस के भीतर कड़वेपन का लेश भी नहीं है) सरस्वती देवी भी विस्मय का कारण नहीं है, सरस्वती और मेरी वाणी का अन्तर तो अत्यन्त प्रसिद्ध है अतः मेरी वाणी की तो गति ही क्या है ? ऐसी अवस्था होने पर भी आपकी इच्छा से ही मेरी इस स्तोत्र में प्रवृत्ति हुई है—इस बात को "ममेत्यादि"

उत्तरार्द्ध से कहते हैं। 'जो पुरुष मेरा गुणकीर्तन करेगा मैं उसकी सांसारिक व्यवहार से मलिन वाणी को पवित्र करूंगा, इस प्रकार आपकी बुद्धि (अभिप्राय) सदा निश्चयपूर्वक रहती है, अतः आपके अधीन ही मेरी यह प्रवृत्ति है क्योंकि श्रुति में कहा है कि "यह परमात्मा ही उस पुरुष से साधु कर्म करवाते हैं जिसे उत्तम लोकों में ले जाना चाहते हैं, और उस पुरुष से असाधु (पाप) कर्म करवाते हैं जिसे अधम लोकों में ले जाना चाहते हैं।" तथा स्मृति में भी कहा है कि "यह मूढ़ प्राणी अपने सुख दुःख के विषय में असमर्थ है, ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग अथवा नरक को प्राप्त होता है।" इस लिये आप परम दयालु हैं जो शरणागत भक्तों की वाणी को पवित्र करने के लिये उनसे अपनी स्तुति करवाने के लिये सर्वदा स्वयमेव प्रयत्नवान् रहते हैं, अतएव जैसी कैसी भी स्तुति से आप प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

एव हरिहरयोः स्तुत्यत्वं सफलस्तुतिकत्वं च निरूप्य ये केचित्पापीयांसस्तस्य सद्भावेऽपि विवदन्ते तान्निराकुर्वन्स्तौति—

इस प्रकार विष्णु और महादेव की स्तुति की योग्यता तथा सफलता को निरूपण करके अब जो अत्यन्त पापी लोग परमेश्वर के सद्भाव में विवाद करते हैं उनका खण्डन करते हुए गन्धवराज परमात्मा की स्तुति करते हैं:—

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्-
त्रयीवस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु ।
अभव्यानामस्मिन्वरद रमणीयामरमणीं
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः ॥४॥

तवेति । हे वरद! ईप्सितप्रद, यत्तव ऐश्वर्यं तद्विहन्तुं निराकर्तुं एके जड-धियः केचिन्मन्दबुद्धयः व्याक्रोशीं विदधते । साक्षेपमुच्चैर्भाषणमाक्रोशस्तस्य व्यतिहारो व्याक्रोशी । अन्येन कर्तुमारब्धमन्यः करोति अन्येन चान्यः इति कर्मव्यतिहारः । व्याङ्पूर्वात्क्रोशेः 'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' इति पाणिनि-स्मरणात् । ततः स्वार्थे अञ् 'णचः स्त्रियामञ्' इति सूत्रात् । ततः स्त्रियां ङीप् । तां व्याक्रोशीमहमहमिकया कुर्वते यत्सर्वप्रमाणप्रमितं तदपि जिघांस-न्तीति यत्तद्भ्यां मन्दबुद्धित्वं द्योतितम् । अतएव कर्त्रभिप्राये क्रियाफले विदधा-तेरात्मनेपदम् । नहि तद्व्याक्रोशीविधानात्तवैश्वर्यव्याघातः किंतु तेषामेवाधःपात इत्यर्थः । कीदृशं तवैश्वर्यम् । जगदुदयरक्षाप्रलयकृत् जगत आकाशादिप्रपञ्च-जातस्योदयं सृष्टिं, रक्षां स्थितिं, प्रलयं संहारं च करोतीति तथा । अनेना-नुमानमुक्तम् । तच्च 'अजन्मानो लोकाः' इत्यत्र व्यक्तं वक्ष्यते । तथा त्रयी-वस्तु त्रय्याः त्रयाणां वेदानां तात्पर्येण प्रतिपाद्यं वस्तु 'सर्वे वेदा यत्पदमा-मनन्ति' इति श्रुतेः । अनेनागमप्रमाणमुक्तम् । तथा गुणैः सत्वरजस्त-मोभिः लीलोपात्तैर्भिन्नासु पृथक्कृतासु । वस्तु वस्तुगत्या भेद इत्यर्थः । तिसृषु तनुषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्यासु मूर्तिषु व्यस्तं विविच्य न्यस्तम् । प्रकटीकृतभि-त्तियावत् । उपलक्षणं चैतत्सर्वेषामवताराणाम् । एतेन प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तम् तेन सर्वप्रमाणप्रमितमित्यर्थः । कीदृशीं व्याक्रोशीम् । अस्मिन्नभव्यानां अस्मिं-स्त्रैलोक्येऽपि नास्ति भव्यं भद्रं कल्याणं येषां तेऽभव्यास्तेषां रमणीयां मनोहरां वस्तुतस्त्वरमणीममनोहराम् । अमनोहरेऽपि मनोहरबुद्धिभ्रान्तिरभाग्यातिश-यात्तेषामित्यर्थः ॥ हरिपक्षेप्येवम् । अथवा अस्मिंस्तवैश्वर्ये अभव्यानां मध्ये जडधियो जडमतेरत्यन्तमपकृष्टस्येत्यर्थः । तस्य वस्तुतोऽरमणीं व्याक्रोशीं विहन्तुं एके मुख्यां रमणीयां व्याक्रोशीं विदधत इत्यर्थः । जडधिय इत्येकव-चनेन पूर्वपक्षिणस्तुच्छत्वम्, एक इति बहुवचनेन सिद्धान्तिनामतिमहत्त्वं सूचितम् ॥ ४ ॥

हे वरद ! (वाञ्छित वस्तु के देने वाले) आप के उस जगत्प्रसिद्ध ऐश्वर्य्य का खण्डन करने के लिये मन्दमति लोग

अहमहमिकया (बदाबदी) व्याक्रोशी (आक्षेपपूर्वक ऊंचे स्वर से आप के विरुद्ध भाषण) करते हैं, जो भाषण भाग्य-हीन लोगों को तो मनोहर प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः मनोहर नहीं है, (अमनोहर वस्तु में मनोहरबुद्धि होना ही उनकी मन्दभाग्यता को प्रकट करता है) तथा आप का जो ऐश्वर्य्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को करता है, (इस वचन से अनुमान सूचन किया जाता है, वह 'अजन्मानो लोकाः' इत्यादि श्लोक में कहा जायगा) और जो ऐश्वर्य्य त्रयी वस्तु (तीनों वेदों का तात्पर्य्य रूप से प्रतिपाद्य) है। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (सब वेद जिस वस्तु को कथन करते हैं।) यह श्रुति इसी अर्थ को कह रही है, इस वचन से वेद प्रमाण कहा गया है। तथा लीलामात्र से ग्रहण किये हुए सत्त्व, रज और तमोगुणों वाली ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर नामक भिन्न भिन्न (परमार्थ से तो अभिन्नही हैं) तीन मूर्त्तियों में जो ऐश्वर्य्य स्पष्टरूप से प्रकट हो रहा है (यह वचन सब अवतारों का उपलक्षण है, तथा इससे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है), इस प्रकार आप का ऐश्वर्य्य सब प्रमाणों से सिद्ध है, तथापि मन्दबुद्धि मनुष्य उसके खण्डन में बदाबदी प्रयत्न करते हैं— यही उनकी भाग्यहीनता का सूचक है। हरिपक्ष में भी यही अर्थ है। अथवा आप के इस ऐश्वर्य्य के विषय में मन्दभाग्य लोगों में से किसी अत्यन्त जड़मति की वस्तुतः अरमणीय वाणी को खण्डन करने के लिये उत्तम लोग अति रमणीय वाणी को कहते हैं, शेष पूर्ववत् है ॥ ४ ॥

ये त्वात्मप्रत्यक्षमपह्नवते त्रयीं चान्यथा वर्णयन्ति, तेऽनुमानेनैव निराकार्याः। तच्चानुमानं क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदिति जगदुदयरक्षाप्रलयकृदित्यनेन सूचितम्। तत्र पूर्वश्लोकोक्तव्याक्रोशीबीजप्रतिकूलतर्कमु-

द्रावयन्तः पूर्वपक्षिणो निराकुर्वंस्तौति । अथवा कीदृशीं व्याक्रोशीं विदधत इत्याकाङ्क्षायां तां वदन्स्तौति—

जो लोग स्वप्रत्यक्ष का अपलाप कर जाते हैं, वेदों को अन्यथा (कर्मादि में तात्पर्य्य वाला) वर्णन करते हैं, उनका खण्डन अनुमान से ही करना चाहिये। वह अनुमान "पृथिवी आदि कर्तृजन्य हैं, कार्य्य रूप होने से, घट के समान" इस प्रकार है और "जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्" इस विशेषण से सूचित किया गया है। पूर्व श्लोक में कही गई व्याक्रोशी के बीजभूत इस अनुमान पर जो प्रतिकूल तर्क है, उस तर्क को उठाने वाले पूर्वपक्षी लोगों का खण्डन करते हुए श्री पुष्पदन्त महाराज भगवान् की स्तुति करते हैं। अथवा प्रतिवादी लोग कैसी व्याक्रोशी करते हैं इस आशङ्का का उत्तर देते हुए स्तुति करते हैं :—

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥५॥

किमिति । हे वरदेति पूर्वश्लोकात्संबोधनानुषङ्गः । त्वयि विषये कुतर्कस्तर्काभासः कांश्चिद्धतधियः कानपि दुष्टबुद्धीन् जगतो विश्वस्यापि मोहायाऽन्यथाप्रतिपत्तये मुखरयति वाचालान्करोति । कीदृशे त्वयि । अतर्क्यं तर्कागोचरमैश्वर्यं यस्य तस्मिन्सर्वतर्कागोचरे त्वयि यः कश्चित्तर्कः स्वातन्त्र्येणोपन्यस्यते स सर्वोऽप्याभास इत्यर्थः। प्रमाणानां स्वगोचरशून्यत्वात्स्वागोचरे प्रामाण्याभावो युक्त एवेति भावः। कुतर्कमेवाह—किमीह इत्यादिना। स धाता परमेश्वरस्त्रिभुवनं सृजतीति सिद्धान्तमनूद्य तत्र दूषणमाह। खलु किंतु किमीहः का ईहा चेष्टा यस्येति। तथा कः कायः शरीरं कर्तृरूपं यस्येति किंकायः। क उपायः सहकारिकारणमस्येति

किमुपायः। क आधारोऽधिकरणमस्येति किमाधारः। किमुपादानं समवायिकारणं भुवनाकारेण निष्पाद्यमस्येति किमुपादानः। सर्वत्र किंशब्द आक्षेपे। इतिशब्दः प्रकारार्थः। चशब्दः शङ्कान्तरसमुच्चयार्थः। कुलालो हि घटं कुर्वंस्त्वशरीरेण व्याप्रियमाणेन चक्रभ्रमणादिचेष्टया सलिलसूत्राद्युपायेन चक्रादावाधारे मृदमुपादानभूतां घटाकारां करोति, एवं जगत्कर्तापि वाच्यः। तथा च कुलालादिवदनीश्वर एवेत्यभिप्रायः। घटादिदृष्टान्तेन खलु क्षित्यादेः सकर्तृकत्वं साध्यते। तथाच घटादिकर्तरि कर्तृत्वौपयिकं यावद्दृष्टं क्षित्यादिकर्तर्यपि तावदवश्यं स्वीकर्तव्यम्, दृष्टान्तस्य तुल्यत्वात्। तथाचोभयतःपाशा रज्जुः। तदङ्गीकारेऽस्मदादितुल्यत्वादनीश्वरत्वं तदनङ्गीकारे च कर्तृत्वानुपपत्त्याऽसिद्धिरेवेत्येवंरूपः कुतर्क इत्यर्थः। सिद्धान्तं वदन्कुतर्कं विशिनष्टि—अनवसरदुस्थः। नास्त्यवसरोऽवकाशोऽस्येत्यनवसरः, अतएव दुःस्थो दुष्टत्वेन स्थितः। विचित्रनानाशक्तिमायावशेन सर्वनिर्मातरि सर्वतर्कागोचरे त्वयि नास्ति कुतर्कावसर इत्यर्थः। तथाचोक्तम्—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्, इति। नच घटादिकर्तरि यावद्दृष्ट तावत्क्षित्यादिकर्तर्यपि साधनीयम्, व्याप्तिं विना सामानाधिकरण्यमात्रस्यासाधकत्वात्। अन्यथा महानसे धूमवह्न्योर्व्याप्तिग्रहणसमये एव व्यञ्जनादिमत्त्वमपि दृष्टमिति पर्वतादावपि तदनुमानं स्यात्। तस्मात्साधर्म्यसमा जातिरेषा। स्वव्याघातकत्वादनुत्तरम्। पराक्रान्तं चात्र सूरिभिरित्युपरम्यते। हरिपक्षेऽप्येवम् ॥ ५ ॥

हे वरद! आप के विषय में संसार को मोह में डालने के लिये यह कुतर्क बहुत से दुष्टबुद्धि लोगों को वाचाल (बहुत बोलने वाला) बना रहा है, क्योंकि आप का ऐश्वर्य्य किसी तर्क का विषय नहीं है, ऐसी दशा में जो तर्क स्वतन्त्रतापूर्वक आप के विषय में किया जाता है वह तर्काभास (मिथ्या तर्क) ही है।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अपने स्वरूप को ग्रहण नहीं करते हैं, आंख अपने स्वरूप को नहीं देखती है यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है, सब प्रमाण तथा प्रमेय आदि जगत् का वास्तविक स्वरूप अधिष्ठा-

नभूत परमात्मा ही है, अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के स्वरूपभूत आप, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विषय नहीं हैं। अथवा उस उस उपाधि से युक्त चित् ही सर्वत्र प्रमाणस्वरूप है, वह दृश्यवर्ग को तो प्रकाशन करती है परन्तु अपने विशिष्ट या शुद्ध स्वरूप को प्रकाशन नहीं करती, शुद्ध स्वरूप तो स्वतःप्रकाशमान है और विशिष्ट स्वरूप साक्षी से भासता है। इस रीति से भी प्रमाणों का निरुपाधिरूप प्रमाणों का विषय नहीं है, इस लिये प्रमाणसापेक्ष तर्क का विषय भी आप नहीं हैं, अतः आप के विषय में तर्क करना व्यर्थ है। उसी कुतर्क को दिखाते हैं, "वह परमात्मा त्रिभुवन की रचना करता है"—यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, जगत् की रचना में परमात्मा की किस प्रकार की चेष्टा है? किस शरीर से, किन साधनों से, कौन से आधार पर और किस उपादान कारण से संसार को रचता है? जैसे कुम्हार घड़े को बनाते समय अपने शरीर से चक्र घुमाना आदि चेष्टा द्वारा जल सूत्र आदि साधनों से चक्र आदि आधार पर मिट्टी आदि उपादान को घट के आकार में बनाता है, ऐसे ही जगत्कर्त्ता भी यदि जगत् को बनाता है तो कुम्हार आदि के समान परमात्मा भी अनीश्वर ही हो जायगा। क्योंकि घटादि दृष्टान्त से पृथ्वी आदि के कर्त्ता की सिद्धि करते हो, घटादि के बनाने वाले में 'कर्त्तापने' की सिद्धि के लिये जितनी सहकारी कारणसामग्री देखने में आती है उतनी जगत् के कर्त्ता में भी अवश्य स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि दृष्टान्त की तुल्यता सब अंश में होनी चाहिए, ऐसी दशा में "उभयतः पाशा रज्जु" न्याय की प्राप्ति है, यदि सर्वांश में परमात्मा में तुल्यता मानो तो वह परमात्मा कुम्हार के समान अनीश्वर ही होगा, यदि सब अंश में समता न मानोगे तो कर्तृत्व के निरूपण न हो सकने से इस अनुमान द्वारा परमात्मा की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी, यही कुतर्क का आकार है।

(समाधान) यह कुतर्क कैसा है कि जिसे इस अनुमान में कुछ अवकाश नहीं है अतएव यह दोषयुक्त है, क्योंकि विचित्र नानाशक्ति वाली माया से सर्व के स्रष्टा और सब तर्कों के अविषयीभूत आप के विषय में कुतर्क को कोई अवसर ही नहीं है। इसी लिये कहा गया है, कि "जो पदार्थ तर्क के विषय नहीं हैं उन पर तर्क की योजना नहीं करनी चाहिए"। यदि कहो कि घटादि के कर्त्ता में जितना धर्म देखने में आता है उतना पृथिव्यादि के कर्त्ता में भी अवश्य मानना चाहिए ? तो यह ठीक नहीं, क्योंकि व्याप्ति के बिना सामानाधिकरण्यमात्र किसी वस्तु का साधक नहीं है; यदि ऐसा नहीं मानो तो रसोई में धूम और अग्नि के व्याप्तिज्ञान काल में वहां पंखा आदि भी देखा जाता है इसलिये पर्वत आदि में धूम से पंखे आदि का भी अनुमान हो जायगा ! इसलिये यह "साधर्म्यसमा जाति" है, स्वव्याघातक होने से असत् उत्तर है। इस विषय में विद्वान् लोगों ने बड़े बड़े पराक्रम दिखाए हैं अतः हम यहां उपराम करते हैं। हरिपक्ष में भी ऐसे ही समझिए ॥ ५ ॥

एवं प्रतिकूलतर्कं परिहृत्यानुकूलतर्कमुद्भावयन्स्तौति—

इस प्रकार प्रतिकूल तर्क का परिहार करके अनुकूल तर्क का निरूपण करते हुए गन्धर्वराज स्तुति करते हैं :—

अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति ।
अनीशो वा कुर्याद्भुवनजनने कः परिकरो
यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ॥६॥

अजेति । हे अमरवर सर्वदेवश्रेष्ठ, अवयववन्तोऽपि सावयवा अपि लोकाः क्षित्यादयः किमजन्मानो जन्महीनाः। किंशब्द आक्षेपे । तेन न जन्महीनाः किंतु जन्या एवेत्यर्थः । तेन सावयवत्वेन क्षित्यादेर्न जन्यत्वहेतोरसिद्धत्वम् । 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' इति न्यायात् स्वसमानसत्ताकभेदप्रतियोगित्वेनैव जन्यत्वनियमाच्च । तथा जगतां क्षित्यादीनां भवविधिरुत्पत्तिक्रियाऽधिष्ठातारं कर्तारमनादृत्यानपेक्ष्य किं भवति । अपेक्ष्यैव भवतीत्यर्थः । तेन कार्यत्वसकर्तृकत्वयोरव्यभिचारान्नानैकान्तिकत्वं हेतोः । तथानीशो वा ईश्वरादन्यो वा यदि कुर्यात्तर्हि भुवनजनने कः परिकरः का सामग्री । अनीश्वरस्य स्वशरीररचनामप्यजानतो विचित्रचतुर्दशभुवनरचनाऽसंभवादीश्वर एव रचनां करोतीत्यर्थः । परिकरमिति पाठे को वानीश्वरो भुवनजनने परिकरमारम्भं कुर्यात् । अपित्वीश्वर एव कुर्यादित्यर्थः । एतेनार्थान्तरता परिहृता । एवमनुमानदोषानुद्धृत्य शङ्कितदोषान्तरं निराकुर्वन्नुपसंहरति—यत इति । यत एवं सर्वप्रमाणसिद्धस्त्वं, अतस्ते मन्दा मूढा नतु विद्वांसः इमे ये त्वां प्रति संशेरते संदेहवन्तः किमुत विपर्ययवन्त इत्यर्थः । 'जन्माद्यस्य यतः' इति न्यायेन 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादिश्रुतिरेव परमेश्वरे प्रमाणम् । अनुमानं त्वनुकूलतर्कमात्रं श्रुतेर्न स्वातन्त्र्येण प्रमाणमिति द्रष्टव्यम् । हरिपक्षेऽप्येवम् ॥ ६ ॥

हे अमरवर ! (सर्व देवों में श्रेष्ठ) क्या यह भूमि आदि लोक सावयव होते हुए भी जन्म से रहित हैं ? अर्थात् नहीं, किन्तु जन्य हैं, इससे जन्यत्व (कार्यत्व) हेतु पर स्वरूपासिद्धि नहीं रही, क्योंकि 'घट के समान सावयव होने से पृथिवी आदि जन्य हैं'—इस वाक्यप्रयोग से पृथिव्यादि पक्ष में जन्यता हेतु अत्यन्त प्रसिद्ध है । और "यावद्विकारंतु विभागो लोकवत्"—इस न्यायानुसार "जहां जहां स्वसमानसत्ता वाले भेद की प्रतियोगिता है वहां वहां जन्यत्व है"—इस नियम से भी पृथिवी आदि

में जन्यत्व हेतु की प्रसिद्धि है। "घट घटी कटक कुण्डल आदि के समान, आत्मा से भिन्न तथा विभक्त (बँटा हुआ, अवयवी) होने के कारण, पृथिवी आकाश काल दिशा मन परमाणु आदि सम्पूर्ण जगत् जन्य (कार्य रूप) है। जैसे घट घटी से, घटी घट से, कटक कुण्डल से, कुण्डल कटक से भिन्न हैं तथा कार्य्य रूप हैं— ऐसेही आकाश मन से, मन काल से, काल वायु से—इत्यादि रीति से आकाश मन आदि सकल प्रपञ्च परस्पर भिन्न (अर्थात् स्वसमानसत्ता वाले भेद का प्रतियोगी) है अतएव कार्य्य (जन्य) है"। यह न्यायप्रयोग का आकार तथा व्याख्यान है। विशेष व्याख्यान 'यावद्विकारं' इत्यादि वेदान्तसूत्र के भाष्य आदि में बुद्धिमान् पाठकों को स्वयं देख लेना चाहिए। तथा पृथिव्यादि पदार्थों की उत्पत्ति क्रिया क्या किसी अधिष्ठाता (कर्त्ता) की अपेक्षा न करके हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती, इससे कार्य्यत्व और सकर्तृकत्व का अव्यभिचार होने से हेतु पर अनैकान्तिकत्वापत्ति की आशङ्का निवृत्त की गई।

और यदि ईश्वर से भिन्न कोई जीव संसार की रचना करने वाला हो तो संसार को रचने के लिये उसके पास क्या सामग्री है? क्योंकि जीव तो अपने शरीर की रचना को भी नहीं जानता, तब वह विचित्र चौदहभुवनों की रचना कैसे कर सकता है ? अतः ईश्वर ही जगत् की रचना करता है। इस वचन से अर्थान्तर दोष की निवृत्ति हुई—इस प्रकार अनुमान के दोषों का परिहार करके अन्य दोषों की शङ्का को दूर करते हुए गन्धर्वराज उपसंहार करते हैं। इस प्रकार आप सब प्रमाणों द्वारा सिद्ध हैं, इस लिये वे लोग मूढ़ हैं जो आप के विषय में सन्देह भी करते हैं, विपरीत बुद्धि वालों का तो कहना ही क्या है ! वस्तुतः ऐसा जानना चाहिए कि "जन्माद्यस्य यतः" इस वेदान्त सूत्रानुसार "जिससे ये

पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए जिसके द्वारा स्थित रहते हैं, और प्रलय काल में जिसमें प्रवेश करते हैं वही ब्रह्म है।" "आनन्द ब्रह्म है ऐसा जानो" इत्यादि अर्थवाली श्रुतियां ही परमेश्वर के विषय में प्रमाण हैं, अनुमान तो श्रुति प्रमाण का अनुकूल तर्कमात्र है, स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। हरिपक्ष में भी यही अर्थ है ॥६॥

एवं तावत्प्रतिकूलतर्कं परिहृत्य भगवद्विमुखान्निरस्य सर्वेषां शास्त्रप्रस्थानानां भगवत्येव तात्पर्यं साक्षात्परम्परया वेति वदन्स्तौति—

यहां तक प्रतिकूलतर्क परिहारपूर्वक भगवद्विमुख पुरुषों का खण्डन करके सम्पूर्ण शास्त्र प्रस्थानों का साक्षात् या परम्परा से भगवान् में ही तात्पर्य है—ऐसा कहते हुए पुष्पदन्त यक्षराज, भगवान् की स्तुति करते हैं :—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥७॥

त्रयीति । हे अमरवर, नाना संकीर्णाः पन्थानः नानापथाः ऋजवश्च कुटिलाश्च ऋजुकुटिलाः ऋजुकुटिलाश्च ते नानापथाश्चेति ऋजुकुटिलनानापथास्ताञ्जुषन्ते भजन्तीति तथा तेषां नृणामधिकार्यनधिकारिसाधारणानां तत्तत्साधनानुष्ठानैः साक्षात्परम्परया वा त्वमेवैको गम्यः प्राप्यः नत्वन्यः कश्चिदित्यर्थः।अत्र दृष्टान्तमाह—पयसामर्णव इव। यथा ऋजुपथजुषां गङ्गानर्मदादीनां साक्षादेव समुद्रः प्राप्यः, यथा वा कुटिलपथजुषां यमुनासरय्वादीनांगङ्गादिप्रवेशद्वारा परंपरया, एवं वेदान्तवाक्यश्रवणमननादिनिष्ठानां साक्षात्त्वं

प्राप्यः, अन्येषां त्वन्तःकरणशुद्धितारम्येन परम्परया त्वमेव प्राप्यः । चेतनत्वेनैव मोक्षयोग्यत्वात्परमात्माभ्युपगमाच्चेत्यर्थः । ननु ऋजुमार्गे सति तं विहाय किमिति कुटिलमार्गं भजन्ते ऋजुमार्गस्यैव शीघ्रफलदायित्वादित्यत आह । प्रभिन्ने स्थाने इदं परं पथ्यं अदः परं पथ्यमिति च रुचीनां वैचित्र्यात् तस्मिंस्तस्मिञ्शास्त्रप्रस्थाने इदमेव श्रेष्ठमिदमेव मम हितमितीच्छाविशेषाणामनेकप्रकारत्वात् प्राग्भवीयतत्तत्कर्मवासनावशेन ऋजुत्वकुटिलत्वनिश्चयासामर्थ्यात्कुटिलेऽपि ऋजुभ्रान्त्या प्रवर्तन्त इत्यर्थः ।

हे अमरवर ! अनेक प्रकार के ऋजु और कुटिल मार्गों में चलने वाले लोगों के लिये साक्षात् या परम्परा से आप ही गम्य (प्राप्ति के योग्य) हैं, जैसे ऋजु (सीधे) मार्ग से बहने वाली गङ्गा, नर्मदा आदि नदियों का साक्षात्, और कुटिल मार्ग (समुद्र में साक्षात् न मिलने के कारण) से बहने वाली यमुना, सरयू आदि नदियों का गङ्गा आदि द्वारा परम्परा से समुद्र गन्तव्य स्थान है, ऐसे ही वेदान्त वाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने वाले मुमुक्षुओं के आप साक्षात् प्राप्य (प्राप्ति के योग्य) हैं, और अन्यान्य लोगों के भी अन्तःकरण की शुद्धि आदि के तारतम्य के कारण परम्परा से प्राप्य हैं, क्योंकि चेतनतारूप हेतु से आप ही मोक्ष-योग्य तथा परमात्म-स्वरूप हैं । (प्रश्न) जब ऋजु मार्ग ही शीघ्र फल का देने वाला है तब उसे छोड़ कर लोग कुटिल मार्ग में क्यों जाते हैं ? (उत्तर) इस संसार में अनेक प्रकार के प्रस्थान (शास्त्र) हैं, तथा पूर्व पूर्व जन्मों में प्राणियों की संचित कर्म वासनाएँ भी विलक्षण विलक्षण हैं, और स्व स्ववासनानुसार पुरुषों की रुचि भी भिन्न भिन्न है, अतः रुचि की विचित्रता के कारण जिस पुरुष की "यही प्रस्थान सबसे अधिक हितकर है" इस प्रकार जिस प्रस्थान में दृढ़तर भावना हो जाती है उसी प्रस्थान को चाहे वह कुटिल (असत्) भी हो तो भी सत्य और असत्य के विवेक

में असमर्थ होने के कारण उसे सत्य ही मान कर वह पुरुष उसमें प्रवृत्त हो जाता है ।

प्रस्थानभेदमेव दर्शयति । त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति । सर्वशास्त्रोपलक्षणमेतत् । तथाहि त्रयीशब्देन वेदत्रयवाचिना तदुपलक्षिता अष्टादश विद्या अप्यत्र विवक्षिताः । तत्र ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इति वेदाश्चत्वारः । शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति वेदाङ्गानि षट् । पुराणानि न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि चेति चत्वार्युपाङ्गानि । अत्रोपपुराणानामपि पुराणेष्वन्तर्भावः । वैशेषिकशास्त्रस्य न्याये, वेदान्तशास्त्रस्य मीमांसायाम्, महाभारतरामायणयोः सांख्यपातञ्जलपाशुपतवैष्णवादीनां च धर्मशास्त्रेष्विति मिलित्वा चतुर्दश विद्याः । तथाचोक्तम् 'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' इति । एता एव चतुर्भिरुपवेदैः सहिता अष्टादश विद्या भवन्ति । आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्ववेदोऽर्थशास्त्रं चेति चत्वार उपवेदाः । ता एता अष्टादश विद्यास्त्रयीसांख्य मित्यनेनोपन्यस्ताः । अन्यथा न्यूनताप्रसङ्गात् । सर्वेषां चास्तिकानामेतावन्त्येव शास्त्रप्रस्थानानि । अन्येषामप्येकदेशिनामेष्वेवान्तर्भावात् ।

वे प्रस्थान त्रयी, सांख्य, योग, पशुपतिमत, वैष्णव इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं, और ये सर्व शास्त्रों के उपलक्षण हैं । जैसे तीनों वेदों के वाचक 'त्रयी' (और सांख्य) शब्द से उपलक्षित अठारह विद्याएँ भी यहां विवक्षित हैं, उनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—यह चार वेद हैं । शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष ये छ वेदाङ्ग हैं । पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र—यह चार उपाङ्ग हैं, यहां उपपुराणों का भी पुराणों में ही अन्तर्भाव है । वैशेषिक शास्त्र का न्याय में, वेदान्त शास्त्र का मीमांसा में, महाभारत और रामायण का तथा सांख्य, पातञ्जल (योग), पाशुपत और वैष्णव आदि का धर्मशास्त्रों में

अन्तर्भाव है—इस प्रकार मिला कर चौदह विद्याएँ हैं । ऐसे ही अन्यत्र भी कहा है:—कि "पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, ६ अङ्ग और चार वेद-यह विद्या और धर्म के चौदह स्थान हैं।" इन्हीं में चार उपवेदों को मिला देने से अठारह विद्याएं हो जाती हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थशास्त्र—यह चार उपवेद हैं। त्रयी और सांख्य शब्द से इन्हीं अठारह विद्याओं का ग्रहण करना, नहीं तो न्यूनता दोष की प्राप्ति होगी, सब आस्तिकों के इतने ही शास्त्रप्रस्थान हैं, क्योंकि दूसरे एकदेशी लोगों का भी इन्हीं में अन्तर्भाव है।

ननु नास्तिकानामपि प्रस्थानान्तराणि सन्ति तेषामेतेष्वनन्तर्भावात्पृथग्गणयितुमुचितानि । तथाहि शून्यवादेनैकं प्रस्थानं माध्यमिकानाम् । क्षणिकविज्ञानमात्रवादेनापरं योगाचाराणाम् । ज्ञानाकारानुमेयक्षणिकबाह्यार्थवादेनापरं सौत्रान्तिकानाम् । प्रत्यक्षस्वलक्षणक्षणिकबाह्यार्थवादेनापरं वैभाषिकाणाम् । एवं सौगतानां प्रस्थानचतुष्टयम् । तथा देहात्मवादेनैकं प्रस्थानं चार्वाकाणाम् । एवं देहातिरिक्तदेहपरिणामात्मवादेन द्वितीयं प्रस्थानं दिगम्बराणाम् । एवं मिलित्वा नास्तिकानां षट् प्रस्थानानि तानि कस्मान्नोच्यन्ते । सत्यम् । वेदबाह्यत्वात्तु तेषां म्लेच्छादिप्रस्थानवत्परम्परयापि पुरुषार्थानुपयोगित्वादुपेक्षणीयत्वमेव । इह च साक्षाद्वा परम्परया वा पुनर्थोपयोगिनां वेदोपकरणानामेव प्रस्थानानां भेदो दर्शितोऽतो न न्यूनत्वशङ्कावकाशः ।

(शङ्का) नास्तिकों के भी अन्यान्य प्रस्थान हैं, उनका आस्तिकों के प्रस्थानों में तो अन्तर्भाव हो नहीं सकता, अत: उनकी पृथक् गणना करना उचित है, जैसे 'शून्यवाद' नाम से माध्यमिकों का एक प्रस्थान है, क्षणिकविज्ञानवाद नाम से योगाचारों का प्रस्थान है, ज्ञानाकारानुमेय क्षणिक बाह्यार्थवाद नाम से सौत्रान्तिकों का प्रस्थान है, और प्रत्यक्ष—स्वलक्षण क्षणिक बाह्यार्थवाद नाम से वैभाषिकों का प्रस्थान है, इस प्रकार सौगतों (बौद्धों) के चार

प्रस्थान हैं। तथा 'देहात्मवाद' नाम से एक प्रस्थान चारवाकों का है। इसी प्रकार 'देह से भिन्न देह परिमाणात्मवाद' नाम वाला द्वितीय प्रस्थान दिगम्बरों (जैनियों) का है—इस रीति से सब मिला कर नास्तिकों के छ प्रस्थान हैं, उन्हें यहां क्यों नहीं वर्णन करते हो ?

(समाधान) म्लेच्छ आदि प्रस्थानों के समान वेदबाह्य होने से नास्तिकों के प्रस्थानों का परम्परा से भी पुरुषार्थ में उपयोग न होने के कारण वे सब उपेक्षा के ही योग्य हैं, यहां तो साक्षात् या परम्परा से पुरुषार्थोपयोगी वेद के उपकरणभूत (साधन) प्रस्थानों के ही भेदों को दिखाया गया है, अतः उनको यहां न गिनने से कोई न्यूनता नहीं होती है।

अथ संक्षेपेणैषां प्रस्थानानां स्वरूपभेदहेतुः प्रयोजनभेद उच्यते बालानां व्युत्पत्तये। तत्र धर्मब्रह्मप्रतिपादकमपौरुषेयं प्रमाणवाक्यं वेदः। स च मन्त्र-ब्राह्मणात्मकः। तत्र मन्त्रा अनुष्ठानकारणभूतद्रव्यदेवताप्रकाशकाः। तेऽपि त्रिविधाः ऋग्यजुःसामभेदात्। तत्र पादबद्धगायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टा ऋचः 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इत्याद्याः। ता एव गीतिविशिष्टाः सामानि। तदुभय-विलक्षणानि यजूंषि। 'अग्नीदग्नीन्विहर' इत्यादिसंबोधनरूपा निगदसंज्ञा मन्त्रा अपि यजुरन्तर्भूता एव। तदेवं निरूपिता मन्त्राः॥

अब संक्षेप से इन आस्तिक प्रस्थानों के स्वरूप के भेद का हेतु जो प्रयोजन का भेद है उसे अज्ञानियों के बोधन के लिये कहते हैं। धर्म और ब्रह्म को प्रतिपादन करने वाला जो अपौरुषेय प्रमाण-वाक्य है उसे 'वेद' कहते हैं, वह वेद 'मन्त्र' तथा ब्राह्मणरूप से दो प्रकार का है। अनुष्ठान के कारणभूत द्रव्य (घृत दधि आदि) और देवता (इन्द्र आदि) का प्रकाशक वेद 'मन्त्र' रूप है। ऋक्, यजुः और साम नाम से वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं, पादबद्ध गायत्री आदि छन्दों से युक्त 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इत्यादि मन्त्र 'ऋक्'

कहलाते हैं, वही ऋचाएँ गीतिविशिष्ट (गानारूढ) होकर 'साम' कहाती हैं, इन दोनों से विलक्षण मन्त्रों को 'यजुः' कहते हैं, 'अग्नीदग्नीन्विहर' इत्यादि सम्बोधनरूप निगद नाम वाले मन्त्रों का भी 'यजुः' में ही अन्तर्भाव है—यह मन्त्रों का निरूपण हो चुका।

ब्राह्मणमपि त्रिविधम्। विधिरूपम्, अर्थवादरूपम्, तदुभयविलक्षणं च। तत्र शब्दभावना विधिरिति भाट्टाः। नियोगो विधिरिति प्राभाकराः। इष्टसाधनता विधिरिति तार्किकादयः। सर्वो विधिरपि चतुर्विधः। उत्पत्त्यधिकारविनियोगप्रयोगभेदात्। तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इत्यादिः। सेतिकर्तव्यताकस्य करणस्य यागादेः फलसंबन्धबोधको विधिरधिकारविधिः 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिः। अङ्गसंबन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः 'व्रीहिभिर्यजेत', समिधो यजति' इत्यादिः। साङ्गप्रधानकर्मप्रयोगैक्यबोधकः पूर्वविधित्रयमेलनरूपः प्रयोगविधिः। सच श्रौत इत्येके। काल्प इत्यपरे॥

'ब्राह्मण' रूप वेद भी तीन प्रकार का है, विधिरूप, अर्थवादरूप और तीसरा इन दोनों से विलक्षण रूप वाला है। 'शब्दभावना' (प्रेरणा) ही विधि है—यह भाट्टों (कुमारिलभट्टानुयायिओं) का मत है, प्रभाकरानुयायी 'नियोग' को ही विधि मानते हैं, तार्किक तथा मण्डनमिश्र आदि 'इष्टसाधनता' को ही विधि कहते हैं।

उत्पत्ति विधि, अधिकार विधि, विनियोगविधि और प्रयोगविधि—इन नामों से चार प्रकार का विधि है। द्रव्य तथा देवता रूप कर्म के स्वरूपमात्र को बोधन करने वाला विधि उत्पत्तिविधि है, जैसे 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' (अग्नि देवता वाला आठ कपालों में सिद्ध किये हुए पुरोडाश वाला कर्म 'आग्नेय' है) इत्यादि विधि उत्पत्तिविधि है। इतिकर्त्तव्यताविशिष्ट (कर्म के प्रकार से युक्त) याग आदि साधन का स्वर्गादि फल के साथ सम्बन्ध को बोधन करने वाला विधि अधिकारविधि है, जैसे 'दर्शपूर्णमासा-

भ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि (दर्श पूर्णमास नाम वाले याग से स्वर्ग को उत्पन्न करे—यह 'विधिवाक्य' दर्शपूर्णमास याग का स्वर्ग के साथ साध्यसाधकभाव सम्बन्ध है, इस बात को बोधन करता है अतः यह अधिकारविधि है)। अङ्ग के सम्बन्ध का बोध कराने वाला विधि विनियोगविधि कहलाता है, जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत', 'समिधोयजति इत्यादि (व्रीहि (धानों) से याग करे, समिधाओं से याग करे', यह वाक्य 'धान और समिधा' याग के अङ्ग हैं'—इस बात को बोधन करते हैं अतः यह विनियोग-विधि हैं)। अङ्गसहित प्रधानकर्म के प्रयोगैक्य (कर्म में अवि-लम्ब) को जनाने तथा पहली तीनों विधियों को मिलाने वाला विधि प्रयोगविधि है, जैसे 'वेदं कृत्वा वेदिं कुर्य्यात्' इत्यादि ('वेद को बनाकर वेदि को बनावे—यह विधिवाक्य वेद और वेदि बनाने के कर्म में विलम्ब नहीं करना—इस बात को जनाता है अतः यह प्रयोगविधि है। दर्भ (दूब) की मुट्ठी का नाम 'वेद' है, 'आहवनीय' और अन्वाहार्य्यपचन' नाम वाली दो अग्नियों के बीच चार अङ्गुल गहरी एक नाली खोदी जाती है उसे 'वेदि' कहते हैं)। इस प्रयोगविधि को कोई लोग 'श्रौत' (श्रुतिबोधित) और कोई 'काल्प' (कल्पसूत्रों से बोधित) मानते हैं।

कर्मस्वरूपं च द्विविधम्। गुणकर्म अर्थकर्म च। तत्र क्रतुकारकाण्या-श्रित्य विहितं गुणकर्म। तदपि चतुर्विधम्। उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतिभेदात्। तत्र 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत', 'यूपं तक्षति' इत्यादावाधानतक्षणादिना संस्कारविशेषविशिष्टाग्न्यूपादेरुत्पत्तिः। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', 'गां पयो दोग्धि' इत्यादावध्ययनदोहनादिना विद्यमानस्यैव स्वाध्यायपयःप्रभृतेः प्राप्तिः। 'सोममभिषुणोति', 'व्रीहीनवहन्ति', 'आज्यं विलापयति' इत्यादावभिषवावघा-तविलापनैः सोमादीनां विकारः। 'व्रीहीन्प्रोक्षति', 'पत्न्यवेक्षते' इत्यादौ प्रोक्षणावेक्षणादिभिर्व्रीह्यादिद्रव्याणां संस्कारः। एतच्चतुष्टयं चाङ्गमेव। तथा

क्रतुकारकाण्यनाश्रित्य विहितमर्थकर्म । तच्च द्विविधम्, अङ्गं प्रधानं च । अन्यार्थमङ्गम् । अनन्यार्थं प्रधानम् । अङ्गमपि द्विविधं संनिपत्योपकारकमारादुपकारकं च । तत्र प्रधानस्वरूपनिर्वाहकं प्रथमं यथाऽवहननप्रोक्षणादिफलोपकारि । द्वितीयं यथा प्रयाजादि । एवं संपूर्णाङ्गसंयुक्तो विधिः प्रकृतिः । विकलाङ्गसंयुक्तो विधिर्विकृतिः । तदुभयविलक्षणो विधिर्दर्वीहोमः । एवमन्यदप्यूह्यम् । तदेवं निरूपितो विधिभागः ।

गुणकर्म तथा अर्थकर्म के भेद से कर्म का स्वरूप दो प्रकार का है, क्रतु (याग) के कारकों (साधनों) का आश्रयण करके विधान किया गया कर्म गुणकर्म कहलाता है, और वह उत्पत्ति, आप्ति विकृति, सँस्कृति के भेद से चार प्रकार का है। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' 'यूपं तक्षति' (वसन्त में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे, यूप (यज्ञ सम्बन्धी स्तम्भ) को छीले), इत्यादि वाक्यों में 'आधान' और 'तक्षण' (छीलने) आदि से संस्कारविशेष से युक्त अग्नि यूप आदि की उत्पत्ति का विधान किया गया है। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', 'गां पयो दोग्धि' (वेद पढ़ो, गौ का दूध दोहो) इत्यादि स्थल में अध्ययन तथा दोहन आदि से विद्यमान ही वेद और दूध आदि की आप्ति (प्राप्ति) का विधान किया गया है। 'सोममभिषुणोति', व्रीहीनवहन्ति', आज्यं विलापयति' (सोम को निचोड़े, व्रीहि (धान) को कूटे, घी को पिघलावे) इत्यादि स्थान में अभिषव (सोमलता से रस निकालने के लिये कूटना निचोड़ना आदि) अवघात (कूटने) और विलापन (पिघलाने) से सोम, धान और घी आदि की विकृति (विकार) विधान की गयी है। 'व्रीहीन् प्रोक्षति', 'पत्न्यवेक्षते' (धानों का प्रोक्षण (मन्त्रपूर्वक जलसेचन) करे, पत्नी घी को देखे) इत्यादि वाक्यों में प्रोक्षण और अवेक्षण (देखने) आदि से व्रीहि तथा घृत आदि द्रव्यों की सँस्कृति (संस्कार) कही गयी है। यह चारों गुणकर्म, अङ्ग (गुण=अप्रधान) रूप ही हैं।

क्रतु (याग) के साधनों का आश्रयण न करके विधान किया गया कर्म 'अर्थकर्म' कहलाता है, वह दो प्रकार का है 'अङ्ग' और 'प्रधान'। जो कर्म अन्य कर्म के लिये है उसे 'अङ्गकर्म' और जो अन्य के लिये नहीं है उसे 'प्रधानकर्म' कहते हैं। अङ्ग-कर्म भी 'सन्निपत्योपकारक' और 'आरादुपकारक' भेद से दो प्रकार का है। प्रधानकर्म के स्वरूप का निर्वाहक (घटक=बनाने वाला) और स्वर्ग आदि फल का उपकार करने वाला अवहनन, प्रोक्षण (कूटना, मन्त्रपूर्वक जलसिञ्चन) आदि सन्निपत्योप-कारक अङ्गकर्म हैं, और दूसरा प्रयाज आदि आरादुपकारक अङ्ग-कर्म है। इस प्रकार सम्पूर्ण अङ्गों से संयुक्त विधि को 'प्रकृति' कहते हैं और अधूरे अङ्गों से युक्त विधि को 'विकृति' कहते हैं, प्रकृति तथा विकृति दोनों से विलक्षण विधि 'दर्वी होम' है, ऐसे ही अन्यान्य विधियों को भी स्वयं जान लेना। यह विधिभाग का निरूपण हो चुका।

प्राशस्त्यनिन्दान्यतरलक्षणया विधिशेषभूतं वाक्यमर्थवादः। स च त्रिविधः। गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति। तत्र प्रमाणान्तरावरुद्धार्थबोधको गुणवादः 'आदित्यो यूपः' इत्यादिः। प्रमाणान्तरप्राप्तार्थबोधकोऽनुवादः 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादिः। प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधको भूतार्थवादः 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्यादिः। तदुक्तम्—'विरोधे गुण-वादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः' इति। तत्र त्रिविधानामप्यर्थवादानां विधिस्तुतिपरत्वे समानेऽपि भूतार्थवादानां स्वतःप्रामाण्यम्। देवताधिकरणन्यायात्। अबाधिताज्ञातार्थज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यम्। तच्च बाधितविषयत्वाज्ज्ञापकत्वाच्च न गुणवादानुवादयोः। भूता-र्थवादस्य तु स्वार्थे तात्पर्यरहितस्याप्यौत्सर्गिकं प्रामाण्यं न विहन्यते। तदेवं निरूपितोऽर्थवादभागः।

लक्षणावृत्ति से प्राशस्त्य (स्तुति) या निन्दा का बोधक विधि

का शेषभूत वाक्य 'अर्थवाद' कहलाता है, और वह गुणवाद, अनुवाद, और भूतार्थवाद भेद से तीन प्रकार का है। अन्य प्रमाणों से विरुद्ध अर्थ को कथन करने वाला 'गुणवाद' है, जैसे 'आदित्यो यूपः' (यूप (स्तम्भ) सूर्य्य है) यूप को सूर्य्य कहना प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरुद्ध कथन है। अन्य प्रमाणों से सिद्ध पदार्थ के बोधक वाक्य को 'अनुवाद' कहते हैं, जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (अग्नि जाड़े का औषध है) यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है। जो अर्थ अन्य प्रमाण से विरुद्ध तथा सिद्ध (ज्ञात) नहीं है उसके बोधक वाक्य को 'भूतार्थवाद' कहते हैं जैसे 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुद्यच्छत्' (इन्द्र ने वृत्रासुर पर वज्र मारा) यह बात प्रत्यक्षआदि प्रमाण से सिद्ध भी नहीं तथा विरुद्ध भी नहीं, अतः यह भूतार्थवाद (ठीक ठीक अर्थ को कहने वाला अर्थवाद) वाक्य है। ऐसे ही कहा भी है कि "प्रमाणान्तर से विरोध हो तो गुणवाद, प्रमाणान्तर से निश्चित हो तो अनुवाद, और दोनों के न होने से भूतार्थवाद जानना चाहिये, इस प्रकार तीन प्रकार का अर्थवाद है"। तीनों अर्थवादों का तात्पर्य्य विधि की स्तुति में है, अतः यद्यपि इस अंश में तीनों समान हैं तथापि इनमें से भूतार्थवाद 'देवताधिकरण न्याय' से स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि अन्य प्रमाण से अबाधित तथा अज्ञात पदार्थ को बोधन कराना ही 'प्रमाणता' है, वह प्रमाणता गुणवाद और अनुवाद में तो हो नहीं सकती क्योंकि वे अन्य प्रमाण से बाधित तथा ज्ञात पदार्थ को ही ज्ञापन करते हैं, और भूतार्थवाद का यद्यपि स्वार्थ में तात्पर्य्य नहीं है तथापि उसकी औत्सर्गिक (स्वाभाविक) प्रमाणता का कोई नाशक नहीं है अतः वह स्वतः प्रमाण है—यह अर्थवाद भाग का व्याख्यान हो चुका।

विध्यर्थवादोभयविलक्षणं तु वेदान्तवाक्यम् । तच्चाज्ञातज्ञापकत्वेऽप्यनुष्ठानाप्रतिपादकत्वान्न विधिः । स्वतः पुरुषार्थपरमानन्दज्ञानात्मकब्रह्मणि स्वार्थे

उपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया स्वतःप्रमाणभूतं सर्वानपि विधीनन्तःकरणशुद्धिद्वारा स्वशेषतामापादयदन्यशेषत्वाभावाच्च नार्थवादः । तस्मादुभयविलक्षणमेव वेदान्तवाक्यम् । तच्च क्वचिदज्ञातज्ञापकत्वमात्रेण विधिरिति व्यपदिश्यते । विधिपदरहितमपि प्रमाणवाक्यत्वेन च क्वचित् भूतार्थवाद इति व्यवह्रियत इति न दोषः । तदेवं त्रिविधं निरूपितं ब्राह्मणम् ।

विधि और अर्थवाद से विलक्षण वेदभाग को वेदान्तवाक्य कहते हैं, वेदान्तवाक्य यद्यपि अज्ञातपदार्थ का ज्ञान कराने वाले हैं तथापि अनुष्ठान (कर्म) के प्रतिपादक न होने के कारण विधिरूप नहीं हैं, और उपक्रमोपसंहार आदि छ प्रकार के तात्पर्य्य के लिङ्गों से युक्त होने के कारण 'स्वतः पुरुषार्थ परमानन्दज्ञानात्मक ब्रह्मरूप' अपने अर्थ में वे स्वतः प्रमाण हैं, सब विधिवाक्य अन्तःकरणशुद्धि द्वारा वेदान्तवाक्यों के ही शेष हैं, वे किसी के शेष नहीं हैं अतः अर्थवादरूप भी नहीं हैं, इसलिये वेदान्तवाक्य उन दोनों से विलक्षण ही हैं, कहीं कहीं अज्ञात वस्तु के ज्ञापकमात्र होने से वेदान्तवाक्यों के लिये विधिशब्द का प्रयोग किया गया है और विधिपद से शून्य होते हुए भी प्रमाणवाक्यमात्र होने से कहीं कहीं भूतार्थवाद शब्द से भी वेदान्तवाक्यों के लिये व्यवहार किया गया है, अतः उनको दोनों से विलक्षण मानने में कोई दोष नहीं है । इस प्रकार तीन प्रकार के ब्राह्मण का निरूपण हो चुका ।

एवं च कर्मकाण्डब्रह्मकाण्डात्मको वेदो धर्मार्थकाममोक्षहेतुः । स च प्रयोगत्रयेण यज्ञनिर्वाहार्थमृग्यजुःसामभेदेन भिन्नः । तत्र हौत्रप्रयोग ऋग्वेदेन आध्वर्यवप्रयोगो यजुर्वेदेन, औद्गात्रप्रयोगः सामवेदेन । ब्राह्मयाजमानप्रयोगौ त्वत्रैवान्तर्भूतौ । अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्तोऽपि शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकादिकर्मप्रतिपादकत्वेनात्यन्तविलक्षण एव । एवंच प्रवचनभेदात्प्रतिवेदं भिन्ना भूयस्यः शाखाः । एवंच कर्मकाण्डे व्यापारभेदेऽपि सर्वासां वेदशाखानामेकरूपकत्वमेव ब्रह्मकाण्डमिति चतुर्णां वेदानां प्रयोजनभेदेन भेद उक्तः ।

इस रीति से कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मकाण्डात्मक वेद 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' का हेतु है, वह वेद यज्ञ के निर्वाह के लिये तीन प्रकार के प्रयोग के कारण ऋग् यजुः और साम के भेद से भिन्न भिन्न है। होतृसम्बन्धि प्रयोग (कर्म) ऋग्वेद से, अध्वर्य्युसम्बन्धि-प्रयोग यजुर्वेद से और उद्गातृसम्बन्धि प्रयोग सामवेद से होता है, ब्रह्मा और यजमानसम्बन्धि प्रयोग का इन्हीं में अन्तर्भाव है, और अथर्ववेद का यद्यपि यज्ञ में उपयोग नहीं है तथापि शान्तिक (शान्ति कर्म), पौष्टिक (पुष्टि कर्म), आभिचारिक (अभिचार कर्म) आदि कर्मों का प्रतिपादक होने से पूर्व तीनों वेदों से विलक्षण ही है। और प्रवचनभेद (पढ़ने वालों के सम्प्रदायों के भेद) से प्रत्येक वेद की भिन्न भिन्न बहुत सी शाखाएं हैं, इस प्रकार कर्मकाण्ड में व्यापार (यागादिकर्म) भेद के होते हुए भी सब वेदशाखाओं का ब्रह्मकाण्ड एक रूप का ही है-यह चारों वेदों का प्रयोजनभेद से भेद कह चुके।

अथाङ्गानामुच्यते। तत्र शिक्षाया उदात्तानुदात्तस्वरितह्रस्वदीर्घप्लुतादिविशिष्टस्वरव्यञ्जनात्मकवर्णोच्चारणविशेषज्ञानं प्रयोजनम्। तदभावे मन्त्राणामनर्थकफलत्वात्। तथा चोक्तम्—"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्" इति। तत्र सर्ववेदसाधारणी शिक्षा 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि' इत्यादिनवखण्डात्मिका पाणिनिना प्रकाशिता। प्रतिवेदशाखं च भिन्नरूपाः प्रातिशाख्यसंज्ञिता अन्यैरेव मुनिभिः प्रदर्शिताः। एवं वैदिकपदसाधुत्वज्ञानेनोहादिकं व्याकरणस्य प्रयोजनम्। तच्च 'वृद्धिरादैच्' इत्याद्यध्यायाष्टकात्मकं महेश्वरप्रसादेन भगवता पाणिनिनैव प्रकाशितम्। तत्र कात्यायनेन मुनिना पाणिनीयसूत्रेषु वार्तिकं विरचितम्। तद्वार्तिकोपरि च भगवता पतञ्जलिना महाभाष्यमारचितम्। तदेतत्त्रिमुनिव्याकरणं वेदाङ्गमाहेश्वरमित्याख्यायते। कौमारादिव्याकरणानि तु न वेदाङ्गानि किंतु लौकिकप्रयोगमात्रज्ञानार्थानीत्यवगन्तव्यम्।

अब वेद के अङ्गों का निरुपण करते हैं, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत आदि से युक्त स्वर और व्यञ्जनरूप वर्णों के उच्चारणविशेष का ज्ञान कराना 'शिक्षा' का प्रयोजन है, उच्चारणज्ञान के न होने से अनर्थ की प्राप्ति होती है, ऐसे ही कहा है कि "स्वर या वर्ण से हीन मन्त्र मिथ्या (अशुद्ध) उच्चारण किया हुआ उस (विवक्षित) अर्थ को नहीं कहता है, वह वाणीरूप वज्र हो कर यजमान को मार डालता है, जैसे स्वर के अपराध से इन्द्रशत्रु (वृत्रासुर) मारा गया"। सर्ववेदों के लिये साधारण शिक्षा को श्री पाणिनि मुनि ने 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि' इत्यादि से आरम्भ करके नौ खण्डों ('पांच खण्डों' ऐसा पाठ भी कहीं कहीं है) में प्रकाशित किया है। और प्रत्येक वेद के लिये भिन्न भिन्न शिक्षाएँ 'प्रातिशाख्य' नाम से अन्यान्य ऋषियों ने बनाई हैं।

इस प्रकार वैदिक पदों के साधुत्व (शुद्धि) ज्ञानपूर्वक ऊह आदिक व्याकरण का प्रयोजन है। महादेव जी के अनुग्रह से भगवान् पाणिनि मुनि ने 'वृद्धिरादैच्' इत्यादि 'अष्टाध्यायी' रूप व्याकरण की रचना की है, उस पर श्रीकात्यायन मुनि ने 'वार्त्तिक' की रचना की है, उसी प्रकार वार्त्तिक पर भगवान् पतञ्जलि मुनि ने 'महाभाष्य' का निर्माण किया है सो यह 'त्रिमुनि (तीन मुनियों का) व्याकरण' माहेश्वरवेदाङ्ग कहलाता है। कौमार आदि व्याकरण तो वेदाङ्ग नहीं हैं किन्तु लौकिक-प्रयोगमात्र का ज्ञान ही उनका प्रयोजन है।

एवं शिक्षाव्याकरणाभ्यां वर्णोच्चारणे पदसाधुत्वे च ज्ञाते वैदिकमन्त्रपदानामर्थज्ञानाकाङ्क्षायां तदर्थं भगवता यास्केन 'समाम्नायः समाम्नातः (स व्याख्यातव्यः)' इत्यादि त्रयोदशाध्यायात्मकं निरुक्तमारचितम् । तत्र च नामाख्यातनिपातोपसर्गभेदेन चतुर्विधं पदजातं निरूप्य वैदिकमन्त्रपदानामर्थः प्रदर्शितः । मन्त्राणां चानुष्ठेयार्थप्रकाशनद्वारेणैव करणत्वात्, पदार्थज्ञानाधी-

नत्वाच्च वाक्यार्थज्ञानस्य मन्त्रस्थपदार्थज्ञानाय निरुक्तमवश्यमपेक्षितम् । अन्यथानुष्ठानासंभवात् । 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतून' इत्यादीनामतिदुरूहाणां प्रकारान्तरेणार्थज्ञानस्यासंभावनीयत्वाच्च । एवं निघण्ट्वादयोऽपि वैदिकद्रव्यदेवतात्मकपदार्थपर्यायशब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव । तत्रापि निघण्टुसंज्ञकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः । अन्येऽप्यमरहेमचन्द्रादिप्रणीताः कोषाः सर्वे निघण्टुरूपत्वेन निरुक्तान्तर्गता द्रष्टव्याः ।

इस रीति से शिक्षा और व्याकरण से वर्णोच्चारण और पदसाधुत्व को जान कर वैदिकमन्त्रों के पदों के अर्थ को जानने के लिये भगवान् यास्क मुनि ने 'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः' इत्यादि तेरह अध्यायों में 'निरुक्त' की रचना की है। उस में पहले 'नाम, आख्यात, निपात और उपसर्ग' के भेद से चार प्रकार के पदों का निरूपण करके वैदिकमन्त्रों के पदों के अर्थों को दिखाया गया है। अनुष्ठेय अर्थ के प्रकाशन द्वारा ही मन्त्रों को याग के प्रति साधनता है, और पदार्थज्ञान के अधीन वाक्यार्थज्ञान है, अतः मन्त्रस्थपदों के अर्थ के ज्ञान के लिये 'निरुक्त' की आवश्यकता है, नहीं तो अनुष्ठान ही असम्भव हो जायगा और 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तून' इत्यादि अतिदुरूह (कठिन) पदों के अर्थों का ज्ञान अन्य प्रकार से असम्भव है।

द्रव्यदेवतारूप वैदिक पदार्थों के पर्य्यायशब्द स्वरूप निघण्टु भी निरुक्त के ही अन्तर्गत हैं, निघण्टु नाम से एक ग्रन्थ पांच अध्यायों में भगवान् यास्क मुनि ने बनाया है, और अमर, हेमचन्द्र आदि रचित अन्यान्य सब कोष निघण्टु रूप से निरुक्त के अन्तर्गत ही जान लेने चाहिएँ।

एवमृङ्मन्त्राणां पादबद्धच्छन्दोविशेषविशिष्टत्वात्तदज्ञाने च निन्दाश्रवणाच्छन्दोविशेषनिमित्तानुष्ठानविशेषविधानाच्च छन्दोज्ञानाकाङ्क्षायां तत्प्रकाशनाय 'धीश्रीस्त्रीम्' इत्याद्यष्टाध्यायात्मिका छन्दोविचितिर्भगवता पिङ्गलनागेन विर-

चिता । तत्र 'अथ लौकिकम्' इत्यन्तेनाध्यायत्रयेण गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहती-पङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीति सप्त छन्दांसि सर्वाणि सावान्तरभेदानि प्रसङ्गान्निरूपितानि । 'अथ लौकिकम्' इत्यारभ्याध्यायपञ्चकेन पुराणेतिहासादावुपयोगीनि लौकिकानि छन्दांसि प्रसङ्गान्निरूपितानि व्याकरणे लौकिकपदनिरूपणवत् ।

ऋग् नाम के मन्त्र पादबद्ध और छन्दोविशेष से युक्त हैं, छन्दों के न जानने वालों की शास्त्र में निन्दा सुनी गई है, तथा बहुत से अनुष्ठानों के विधान का निमित्त छन्दोविशेष ही हैं, अतः छन्दों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए, उन्हीं छन्दों के ज्ञानार्थ भगवान् पिङ्गलनाग ने 'धी श्री स्त्रीम्' इत्यादि अष्टाध्यायी रूप छन्दःशास्त्र रचा है, उस में 'अथ लौकिकम्'—यहाँ तक तीन अध्यायों से 'गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, और जगती'—इन सात छन्दों का तथा प्रसङ्ग से उनके अवान्तर भेदों का निरूपण करके 'अथ लौकिकम्' यहाँ से आरम्भ करके पाँच अध्यायों में पुराण इतिहास आदि में उपयोगी लौकिक छन्दों का भी प्रसङ्ग से निरूपण किया गया है—जैसे कि व्याकरण में प्रसङ्ग से लौकिक पदों का निरूपण किया है ।

एवं वैदिककर्माङ्गदर्शादिकालज्ञानाय ज्योतिषं भगवतालगधेन गर्गादिभिश्च प्रणीतं बहुविधमेव । एवं शाखान्तरीयगुणोपसंहारेण वैदिकानुष्ठानक्रमविशेषज्ञानाय कल्पसूत्राणि । तानि च प्रयोगत्रयभेदात्त्रिविधानि । तत्र हौत्रप्रयोगप्रतिपादकान्याश्वलायनसांख्यायनादिप्रणीतानि । आध्वर्यवप्रयोगप्रतिपादकानि बौधायनापस्तम्बकात्यायनादिप्रणीतानि । औद्गात्रप्रयोगप्रतिपादकानि तु लाट्यायनद्राह्यायणादिभिः प्रणीतानि । एवं निरूपितः षण्णामङ्गानां प्रयोजनभेदः ।

वैदिक कर्मों के अङ्गभूत दर्श (अमावस्या) आदि काल के ज्ञानार्थ भगवान् अलगध और श्री गर्ग आदि महर्षियों ने अनेक प्रकार का 'ज्योतिष' शास्त्र बनाया है ।

अन्य शाखाओं के गुणों का उपसंहार दिखाते हुए वैदिक

अनुष्ठानों के क्रम को जानने के लिये 'कल्पसूत्र' बनाये गए हैं, वे तीन प्रकार के प्रयोग के कारण तीन प्रकार के हैं। आश्वलायन, सांख्यायन आदि महर्षियों के बनाये कल्पसूत्र होतृसम्बन्धी प्रयोग के प्रतिपादक हैं। बौधायन, आपस्तम्ब, कात्यायन आदि से विरचित कल्पसूत्र अध्वर्युसम्बन्धी प्रयोग के प्रतिपादक हैं। लाट्यायन, ग्रीह्यायण या लाह्यायन, द्राह्यायण आदि मुनिप्रणीत कल्पसूत्र उद्गातृसम्बन्धी प्रयोगों के प्रतिपादक हैं। इस प्रकार छ अङ्गों का प्रयोजनभेद निरूपण हो चुका, अब चारों उपाङ्गों का निरूपण करते हैं।

चतुर्णामुपाङ्गानामधुनोच्यते। तत्र सर्गप्रतिसर्गवंशमन्वन्तरवंशानुचरितप्रतिपादकानि भगवता बादरायणेन कृतानि पुराणानि। तानि च ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं शैवं भागवतं नारदीयं मार्कण्डेयं आग्नेयं भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गं वाराहं स्कान्दं वामनं कौर्मं मात्स्यं गारुडं ब्रह्माण्डं चेत्यष्टादश। एवमुपपुराणान्यप्यनेकप्रकाराणि द्रष्टव्यानि॥ न्याये आन्वीक्षिकी पञ्चाध्यायी गौतमेन प्रणीता। प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानाख्यानां षोडशपदार्थानामुद्देशलक्षणपरीक्षाभिस्तत्त्वज्ञानं तस्याः प्रयोजनम्। एवं दशाध्यायं वैशेषिकशास्त्रं कणादेन प्रणीतम्। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां भावपदार्थानामभावसप्तमानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां व्युत्पादनं तस्य प्रयोजनम्। एतदपि न्यायपदेनोक्तम्।

सर्ग (उत्पत्ति), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश, मन्वन्तर और वंशों के अनुचरितों के प्रतिपादक भगवान् बादरायण (व्यास) के बनाये पुराण इस प्रकार हैं। ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव, शैव, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय; भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, लैङ्ग, वाराह, स्कान्द, वामन, कौर्म, मात्स्य, गारुड और ब्रह्माण्ड—यह अठारह पुराण हैं, इसी प्रकार अनेक प्रकार के उपपुराणों को भी जान लेना।

न्यायविषय में 'आन्वीक्षिकी पञ्चाध्यायी' नाम वाला शास्त्र श्री गौतम मुनि ने बनाया है। प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—इन सोलह पदार्थों के उद्देश्य (नाममात्र से वस्तुकीर्त्तन), लक्षण और परीक्षा द्वारा तत्त्वज्ञान का कराना आन्वीक्षिकी विद्या का प्रयोजन है।

इसी प्रकार श्री कणाद मुनि ने दस अध्यायों में वैशेषिकशास्त्र का निर्माण किया है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—इन ६ भाव और सातवें अभाव पदार्थ के साधर्म्य (समान धर्मों) और वैधर्म्य (विरुद्ध धर्मों) का बोध कराना ही इसका प्रयोजन है। न्यायपद से ही इस शास्त्र का भी कथन किया गया है।

एवं मीमांसापि द्विविधा। कर्ममीमांसा शारीरकमीमांसा च। तत्र द्वादशाध्यायी कर्ममीमांसा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादिः 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इत्यन्ता भगवता जैमिनिना प्रणीता। तत्र धर्मप्रमाणं १, धर्मभेदाभेदौ २, शेषशेषिभावः ३, क्रत्वर्थपुरुषार्थभेदेन प्रयुक्तिविशेषः ४, श्रुत्यर्थपाठादिक्रमभेदः ५, अधिकारविशेषः ६, सामान्यातिदेशः ७, विशेषातिदेशः ८, ऊहः ९, बाधः १०, तन्त्रं ११, प्रसङ्गश्च १२, इति क्रमेण द्वादशानामध्यानामर्थाः। तथा च संकर्षकाण्डमप्यध्यायचतुष्टयात्मकं जैमिनिना प्रणीतम्। तच्च देवताकाण्डसंज्ञया प्रसिद्धमप्युपासनाख्यकर्मप्रतिपादनत्वात्कर्ममीमांसान्तर्गतमेव।

कर्ममीमांसा और शारीरकमीमांसा के भेद से मीमांसा भी दो प्रकार की है। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादि से आरम्भ करके 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' यहां पर्यन्त बारह अध्यायों में भगवान् जैमिनी मुनि ने कर्ममीमांसा की रचना की है। उसमें धर्मप्रमाण, धर्मभेदाभेद, शेषशेषिभाव, क्रत्वर्थ पुरुषार्थ भेद से प्रयुक्तिविशेष,

श्रुत्यर्थपाठादिक्रमभेद, अधिकारविशेष, सामान्यातिदेश, विशेषातिदेश, ऊह, बाध, तन्त्र और प्रसङ्ग—इस क्रम से बारह अध्यायों में बारह पदार्थों का निर्णय किया गया है। ऐसे ही श्री जैमिनी मुनि ने चार अध्यायों में 'संकर्षकाण्ड' नामक एक अन्य शास्त्र भी बनाया है, वह यद्यपि 'देवताकाण्ड' नाम से ही प्रसिद्ध है तथापि उपासनारूप कर्म का प्रतिपादक होने से कर्ममीमांसा के ही अन्तर्गत है।

तथा चतुरध्यायी शारीरकमीमांसा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादिः 'अनावृत्तिः शब्दात्'इत्यन्ता जीवब्रह्मैकत्वसाक्षात्कारहेतुश्रवणाख्यविचार-प्रतिपादकान्न्यायानुपदर्शयन्ती भगवता बादरायणेनकृता। तत्र सर्वेषामपि वेदान्तवाक्यानां साक्षात्परम्परया वा प्रत्यगभिन्नाद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यमिति समन्वयः प्रथमाध्यायेन प्रदर्शितः। तत्र च प्रथमपादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तानि वाक्यानि विचारितानि। द्वितीयपादे त्वस्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तान्युपास्यब्रह्मविषयाणि। तृतीयपादेऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि प्रायशो ज्ञेयब्रह्मविषयाणि। एवं पादत्रयेण वाक्यविचारः समापितः। चतुर्थपादे तु प्रधानविषयत्वेन संदिह्यमानान्यव्यक्तमजादिपदानि चिन्तितानि॥ एवं वेदान्तानामद्वये ब्रह्मणि सिद्धे समन्वये तत्र संभावितस्मृतितर्कादिविरोधमाशङ्क्य तत्परिहारः क्रियत इत्यविरोधो द्वितीयाध्यायेन दर्शितः। तत्राद्यपादे सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्तैस्तर्कैश्च विरोधो वेदान्तसमन्वयस्य परिहृतः। द्वितीयपादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वं प्रतिपादितं, स्वपक्षस्थापनपरपक्षनिराकरणरूपपक्षद्वयात्मकत्वाद्विचारस्य। तृतीयपादे महाभूतसृष्ट्यादिश्रुतीनां परस्परविरोधः पूर्वभागेन परिहृतः। उत्तरभागेन तु जीवविषयाणाम्। चतुर्थपादे इन्द्रियादिविषयश्रुतीनां विरोधपरिहारः॥ तृतीयाध्याये साधननिरूपणम्। तत्र प्रथमपादे जीवस्य परलोकगमननिरूपणेन वैराग्यं निरूपितम्। द्वितीयपादे पूर्वभागेन त्वंपदार्थः शोधितः। उत्तरभागेन च तत्पदार्थः। तृतीयपादे निर्गुणे ब्रह्मणि नानाशाखापठितः पुनरुक्तपदोपसंहारः कृतः। प्रसङ्गाच्च सगुणविद्यासु

शाखान्तरीयगुणोपसंहारानुपसंहारौ निरूपितौ। चतुर्थपादे निर्गुणब्रह्मविद्याया बहिरङ्गसाधनान्याश्रमधर्मयज्ञदानादीनि, अन्तरङ्गसाधनानि शमदमनिदिध्यासनादीनि च निरूपितानि॥ चतुर्थेऽध्याये सगुणनिर्गुणविद्ययोः फलविशेषनिर्णयः कृतः। तत्र प्रथमपादे श्रवणाद्यावृत्त्या निर्गुणं ब्रह्म, उपासनावृत्त्या सगुणं वा ब्रह्म साक्षात्कृत्य जीवतः पापपुण्यालेपलक्षणा जीवन्मुक्तिरभिहिता। द्वितीयपादे म्रियमाणस्योत्क्रान्तिप्रकारश्चिन्तितः। तृतीयपादे सगुणब्रह्मविदो मृतस्योत्तरमार्गोऽभिहितः। चतुर्थपादे पूर्वभागेन निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यप्राप्तिरुक्ता। उत्तरभागेन सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोके स्थितिरुक्तेति। इदमेव सर्वशास्त्राणां मूर्धन्यं, शास्त्रान्तरं सर्वमस्यैव शेषभूतमितीदमेव मुमुक्षुभिरादरणीयं श्रीशंकरभगवत्पादोदितप्रकारेणेति रहस्यम्।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से आरम्भ करके 'अनावृत्तिः शब्दात्' तक चार अध्यायों में शारीरकमीमांसा नाम से भगवान् बादरायण (व्यास) ने एक शास्त्र बनाया है। जीव ब्रह्म के एकत्वसाक्षात्कार के हेतु श्रवणनामक विचार के प्रतिपादक न्यायों को दिखाना इसका प्रयोजन है। साक्षात् या परम्परा से सब वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य्य प्रत्यग् आत्मा से अभिन्न अद्वितीय ब्रह्म में है—यह समन्वय (एक ही वस्तु को कहना) प्रथम अध्याय में वर्णन किया गया है। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गों से युक्त वाक्यों का, द्वितीयपाद में अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्गों से युक्त उपास्य ब्रह्मविषयक वाक्यों का, तृतीय पाद में प्रायः ज्ञेय ब्रह्मविषयक अस्पष्ट ब्रह्मलिङ्गों का प्रतिपादन है—इस प्रकार तीन पादों से वाक्यविचार समाप्त करके चतुर्थ पाद में प्रधानविषयक सन्देहयुक्त 'अव्यक्त, अज' आदि पदों पर विचार किया गया है। प्रथम अध्याय में अद्वय ब्रह्म में वेदान्तवाक्यों का समन्वय सिद्ध करके द्वितीय अध्याय से स्मृति और तर्क आदि से विरोध की आशङ्का करके उसका खण्डन किया गया है, इस प्रकार 'अविरोध' द्वितीय

अध्याय से दिखाया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में सांख्य योग काणाद आदि स्मृतियों तथा सांख्यादि से किये गये तर्कों के साथ वेदान्तसमन्वय के विरोध का परिहार किया गया है, द्वितीय पाद में सांख्य आदि मतों की दुष्टता (दोषवत्ता) का प्रतिपादन है, क्योंकि 'स्वपक्ष का स्थापन और परपक्ष का निराकरण' रूप पक्षद्वय ही विचार का स्वरूप है। तृतीय पाद में पूर्वभाग से महाभूत (आकाश आदि) सृष्टिविषयक श्रुतियों के परस्पर विरोध का परिहार किया गया है और उत्तरभाग से जीवविषयक श्रुतियों के परस्पर विरोध का खण्डन किया गया है। चतुर्थ पाद में इन्द्रियादिविषयक श्रुतियों के परस्पर विरोध का निराकरण किया गया है। तृतीय अध्याय में साधन का निरूपण है—इसके प्रथम पाद में जीव के परलोकगमन के निरूपण द्वारा वैराग्य का प्रतिपादन किया गया है, द्वितीयपाद से पूर्वभाग में 'त्वं' पदार्थ का और उत्तरभाग से तत्-पदार्थ का शोधन, तृतीयपाद में निर्गुण ब्रह्म के विषय में नाना शाखाओं में पढ़े हुए पुनरुक्त पदों का उपसंहार और प्रसङ्ग से सगुण उपासनाओं में शाखान्तरीय गुणों के उपसंहार तथा अनुपसंहार का निरूपण है और चतुर्थपाद में निर्गुण ब्रह्मविद्या के आश्रमधर्म यज्ञ दान आदि बहिरङ्ग साधनों तथा शम दम निदिध्यासन आदि अन्तरङ्ग साधनों का निरूपण किया गया है। चतुर्थ अध्याय में सगुण और निर्गुण उपासनाओं के फलविशेष का निर्णय किया गया है—इसके प्रथम पाद में श्रवण आदि की आवृत्ति से निर्गुण ब्रह्म का या उपासना की आवृत्ति द्वारा सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार करके जीतेजी पाप पुण्य का अलेप रूप जीवन्मुक्तिका कथन, द्वितीय पाद में मरणसमय में जीव के उत्क्रान्ति प्रकार पर विचार किया गया है, तृतीय पाद में सगुण ब्रह्म के उपासक के मरणानन्तर प्राप्त करने योग्य उत्तरमार्ग का निरूपण है और

चतुर्थ पाद में पूर्व भाग से निर्गुणब्रह्म के उपासक की विदेह कैवल्य-प्राप्ति का तथा उत्तरभाग से सगुणब्रह्म के उपासक की ब्रह्मलोक में स्थिति का प्रतिपादन किया गया है। यह वेदान्त ही सर्वशास्त्रों का मूर्धन्य (शिरोमणि) है, अन्य सर्वशास्त्र इसी के शेषभूत हैं अतः मुमुक्षुओं को श्री शङ्कर भगवत्पाद निरूपित प्रक्रिया के अनुसार यही शास्त्र आदरणीय है—यह रहस्य है।

एवं धर्मशास्त्राणि मनुयाज्ञवल्क्यविष्णुयमाङ्गिरःवसिष्ठदक्षसंवर्तशातातप-पराशरगौतमशङ्खलिखितहारीतापस्तम्बोशनोव्यासकात्यायनबृहस्पतिदेवलना-रदपैठीनसिप्रभृतिभिः कृतानि वर्णाश्रमधर्मविशेषाणां विभागेन प्रतिपादकानि । एवं व्यासकृतं महाभारतं, वाल्मीकिकृतं रामायणं च धर्मशास्त्रएवान्तर्भूतं स्पष्टमितिहासत्वेन प्रसिद्धम् । सांख्यादीनां धर्मशास्त्रान्तर्भावेऽपीह स्वशब्देनैव निर्देशात्पृथगेव संगतिर्वाच्या ।

वर्ण आश्रम के धर्म विशेषों को विभागपूर्वक प्रतिपादन करने वाले अनेक धर्मशास्त्र "मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, यम, अङ्गिरा:, वसिष्ठ, दक्ष, संवर्त्त, शातातप, पराशर, गौतम, शङ्ख, लिखित, हारीत, आपस्तम्ब, उशना:, व्यास, कात्यायन, बृहस्पति, देवल, नारद, पैठीनसि" आदि मुनियोंने निर्माण किये हैं। इस प्रकार श्री व्यासकृत महाभारत और श्री वाल्मीकिकृत रामायण (जो इति-हासरूप से स्पष्ट प्रसिद्ध हैं) धर्मशास्त्र के ही अन्तर्भूत हैं। सांख्यादि का धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव होने पर भी श्लोक में उनका 'सांख्यादि' शब्द से स्वतन्त्र ग्रहण होने के कारण पृथक् ही उनकी सङ्गति कहना उचित होगा, जिसे अभी आगे कहेंगे।

अथ वेदचतुष्टयस्य क्रमेण चत्वार उपवेदाः । तत्रायुर्वेदस्याष्टौ स्थानानि भवन्ति सूत्रं शारीरमैन्द्रियं चिकित्सा निदानं विमानं कल्पः सिद्धिश्चेति । ब्रह्मप्रजापत्यश्विधन्वन्तरीन्द्रभरद्वाजात्रेयाग्निवेश्यादिभिरुपदिष्टश्चरकेण संक्षिप्तः । तत्रैव सुश्रुतेन पञ्चस्थानात्मकं प्रस्थानान्तरं कृतम् । एवं वाग्भटादिभिरपि

बहुधेति न शास्त्रभेदः ॥ कामशास्त्रमप्यायुर्वेदान्तर्गतमेव । सुश्रुतेन वाजीकरणाख्यकामशास्त्राभिधानात् । तत्र वात्स्यायनेन पञ्चाध्यायात्मकं कामशास्त्रं प्रणीतम् । तस्य च विषयवैराग्यमेव प्रयोजनं, शास्त्रोदीपितमार्गेणापि विषयभोगे दुःखमात्रपर्यवसानात् । चिकित्साशास्त्रस्य च रोगतत्साधनरोगनिवृत्तितत्साधनज्ञानं प्रयोजनम् ॥ एवं धनुर्वेदः पादचतुष्टयात्मको विश्वामित्रप्रणीतः । तत्र प्रथमो दीक्षापादः । द्वितीयः संग्रहपादः । तृतीयः सिद्धिपादः । चतुर्थः प्रयोगपादः । तत्र प्रथमपादे धनुर्लक्षणमधिकारिनिरूपणं च कृतम् । तत्र धनुःशब्दश्चापे रूढोऽपि चतुर्विधायुधवाची वर्तते । तच्च चतुर्विधं मुक्तं अमुक्तं मुक्तामुक्तं यन्त्रमुक्तं च । तत्र मुक्तं चक्रादि, अमुक्तं खड्गादि, मुक्तामुक्तं शल्यावान्तरभेदादि । यन्त्रमुक्तं शरादि । तत्र मुक्तमस्त्रमित्युच्यते । अमुक्तं शस्त्रमित्युच्यते । तदपि ब्राह्मवैष्णवपाशुपतप्राजापत्याग्नेयादिभेदादनेकविधम् । एवं साधिदैवतेषु समन्त्रकेषु चतुर्विधायुधेषु येषामधिकारः क्षत्रियकुमाराणां तदनुयायिनां च ते सर्वे चतुर्विधाः पदातिरथगजतुरगारूढाः दीक्षाभिषेकशकुनमङ्गलकरणादिकं च सर्वमपि प्रथमपादे निरूपितम् । सर्वेषां शस्त्रविशेषाणामाचार्यस्य च लक्षणपूर्वकं संग्रहणप्रकारो दर्शितः द्वितीये पादे । गुरुसंप्रदायसिद्धानां शस्त्रविशेषाणां पुनःपुनरभ्यासो मन्त्रदेवतासिद्धिकरणमपि निरूपितं तृतीयपादे । एवं देवतार्चनाभ्यासादिभिः सिद्धानामस्त्रविशेषाणां प्रयोगश्चतुर्थपादे निरूपितः । क्षत्रियाणां स्वधर्माचरणं युद्धं दुष्टदस्युचौरादिभ्यः प्रजापालनं च धनुर्वेदस्य प्रयोजनम् । एवं च ब्रह्मप्राजापत्यादिक्रमेण विश्वामित्रप्रणीतं धनुर्वेदशास्त्रम् ॥ एवं गान्धर्ववेदशास्त्रं भरतेन प्रणीतम् । तत्र नृत्यगीतवाद्यभेदेन बहुविधोऽर्थः प्रपञ्चितः ॥ देवताराधननिर्विकल्पकसमाध्यादिसिद्धिश्च गान्धर्ववेदस्य प्रयोजनम् ।

चारों वेदों के क्रम से चार उपवेद हैं, प्रथम 'आयुर्वेद' के सूत्र, शारीर, ऐन्द्रिय, चिकित्सा, निदान, विमान, कल्प और सिद्धि—यह आठ स्थान हैं। ब्रह्मा, प्रजापति, अश्विनी कुमार, धन्वन्तरि, इन्द्र, भरद्वाज, आत्रेय, अग्निवेश आदि मुनियों ने आयुर्वेद का उपदेश किया

है तथा श्री चरक (पतञ्जलि) मुनि ने संक्षेपपूर्वक उसका संस्कार किया है, (जो श्रीचरकसंहिता नाम से प्रख्यात है)। श्री सुश्रुत महर्षि ने एक पञ्चस्थानात्मक भिन्न प्रस्थान की रचना की है (जिसे श्री सुश्रुतसंहिता कहते हैं)। एवं वाग्भट आदि ने अनेक प्रकार का संग्रह किया है तथापि इन सबको आयुर्वेद ही जानना चाहिए। कामशास्त्र को भी आयुर्वेद के ही अन्तगर्त समझना चाहिये, क्योंकि सुश्रुत महर्षि ने वाजीकरण नामक कामशास्त्र का उपदेश किया है। श्री वात्स्यायन मुनि ने पांच अध्यायों में कामशास्त्र का निर्माण किया है, और उसका विषयवैराग्य ही प्रयोजन है, क्योंकि शास्त्र से उद्दीपित (प्रकाशित) मार्ग से भी विषयभोग करने से दुःख-मात्र ही अन्त को प्राप्त होता है। रोग का ज्ञान, रोग के निदान का ज्ञान, रोग की निवृत्ति का ज्ञान और रोग की निवृत्त के साधन का ज्ञानचिकित्साशास्त्र का प्रयोजन है।

एवं श्री विश्वामित्र मुनि ने चार पादों में धनुर्वेद की रचना की है, प्रथम दीक्षापाद, द्वितीय संग्रहपाद, तृतीय सिद्धिपाद, चतुर्थ प्रयोगपाद—यह चारों पादों के नाम हैं। प्रथम पाद में धनुष् का लक्षण और अधिकारी का निरूपण किया गया है, धनुष शब्द चाप (कमान) अर्थ में रूढ़ (प्रसिद्ध) होने पर भी चार प्रकार के आयुध (शस्त्रों) का वाचक है, वह मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त और यन्त्रमुक्त नाम से चार प्रकार का है, चक्र आदि मुक्त हैं, खड्ग आदि अमुक्त हैं, शल्य (बाण) के अवान्तर भेदादि मुक्तामुक्त हैं, शर (बाण) आदि यन्त्रमुक्त हैं। मुक्त को अस्त्र और अमुक्त को शस्त्र कहते हैं, ब्राह्म, वैष्णव, पाशुपत, प्राजापत्य, आग्नेय आदि भेद से शस्त्रास्त्र अनेक प्रकार के हैं। साधिदैवत तथा समन्त्रक चार प्रकार के आयुधों में जिन क्षत्रियकुमारों और तदनुयायियों का अधिकार है, वे पदाति (प्यादा), रथी, गजारूढ़ और

अश्वारूढ़ (घुड़सवार) भेद से चार प्रकार के हैं, उनकी दीक्षा, अभिषेक, शकुन और मङ्गलकरण आदि—इत्यादि विषय प्रथम पाद में निरूपण किया गया है । सब शस्त्रविशेषों के तथा आचार्य्य का लक्षण कह कर उनके संग्रह (प्राप्ति या शिक्षण) का प्रकार द्वितीय पाद में कथन किया है । तृतीय पाद में गुरुसम्प्रदाय सिद्ध शस्त्रविशेषों का वारम्बार अभ्यास तथा मन्त्र और देवता की सिद्धि करना निरूपण किया गया है। इस प्रकार देवतापूजन तथा अभ्यास आदि से सिद्ध किये गये अस्त्रविशेषों का प्रयोग चतुर्थपाद में वर्णन किया गया है क्षत्रियों का स्वधर्माचरण युद्ध तथा दुष्टदस्यु चोर आदि से प्रजा का पालन करना धनुर्वेद का प्रयोजन है । इस रीति से ब्रह्मा, प्रजापति आदि क्रम से प्राप्त श्री विश्वामित्रप्रणीत धनुर्वेद शास्त्र का कथन हो चुका ।

एवं गान्धर्ववेद नामक शास्त्र श्री भरत मुनि ने उपदेश किया है उसमें नृत्य, गीत, वाद्य आदि भेद से बहुत प्रकार के पदार्थ निरूपण किये गये हैं, देवताराधन, निर्विकल्प समाधि आदि की सिद्धि गान्धर्ववेद का प्रयोजन है ।

एवमर्थशास्त्रं च बहुविधं नीतिशास्त्रमश्वशास्त्रं गजशास्त्रं शिल्पशास्त्रं सूपकारशास्त्रं चतुःषष्टिकलाशास्त्रं चेति । (ताश्चतुःषष्टिकलाः शैवागमोक्ताः—गीतम् १, वाद्यम् २, नृत्यम् ३, नाट्यम् ४, आलेख्यम् ५, विशेषकच्छेद्यम् ६, तण्डुलकुसुमबलिविकाराः ७, पुष्पास्तरणम् ८, दशनवसनाङ्गरागाः ९, मणिभूमिकाकर्म १०, शयनरचनम् ११, उदकवाद्यम् १२, उदक(घातः)वादः १३, अद्भुतदर्शनवेदिता १४, मालाग्रथनकल्पः १५, शेखरापीडयोजनम् १६, नेपथ्ययोगः १७, कर्णपत्रभङ्गाः १८, गन्धयुक्तिः १९, भूषणयोजनम् २०, इन्द्रजालम् २१, कौचुमारयोगाः २२, हस्तलाघवम् २३, चित्रशाकापूपभक्तविकारक्रियाः २४, पानकरसरागासवयोजनम् २५, सूचीवापकर्म २६, सूत्रक्रीडा २७, वीणाडमरुकवाद्यानि २८, प्रहेलिकाप्रतिमालाः २९, दुर्वचकयो-

गाः ३०, पुस्तकवाचनम् ३१, नाटिकाख्यायिकादर्शनम् ३२, काव्यसमस्यापूरणम् ३३, पट्टिकावेत्रवाणविकल्पाः ३४, तर्कुकर्माणि ३५, तक्षणम् ३६, वास्तुविद्या ३७, रूप्यरत्नपरीक्षा ३८, धातुवादः ३९, मणिरागज्ञानम् ४०, आकरज्ञानम् ४१, वृक्षायुर्वेदयोगाः ४२, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः ४३, शुकसारिकाप्रलापनम् ४४, उत्सादनम् ४५, केशमार्जनकौशलम् ४६, अक्षरमुष्टिकाकथनम् ४७, म्लेच्छितकविकल्पाः ४८, देशभाषाज्ञानम् ४९, पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानम् ५०, यन्त्रमातृका ५१, धरणमातृका ५२, असंवाच्यसंपाद्यम् मानसीकाव्यक्रियाविकल्पाः ५३, छलितकयोगाः ५४, अभिधानकोशच्छन्दोज्ञानम् ५५, क्रियाविकल्पाः ५६, ललितविकल्पाः ५७, वस्त्रगोपनानि ५८, द्यूतविशेषः ५९, आकर्षक्रीडा ६०, बालक्रीडनकानि ६१, वैनायकीविद्याज्ञानम् ६२, वैजयिकविद्याज्ञानम् ६३, वैतालिकीविद्याज्ञानम् ६४, इति चतुःषष्टिकलाः) नानामुनिभिः प्रणीतं । तस्य च सर्वस्य लौकिकालौकिकतत्तत्प्रयोजनभेदो द्रष्टव्यः । एवमष्टादशविद्यास्त्रयीशब्देनोक्ताः ।

एवं नीतिशास्त्र, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र, शिल्पशास्त्र, सूपकारशास्त्र और चौंसठकलाशास्त्र इत्यादि नानामुनिप्रणीत 'अर्थशास्त्र' भी अनेक प्रकार का है, इस सम्पूर्ण शास्त्र का लौकिक और अलौकि तत्तत् प्रयोजनविशेष स्वयं जान लेना। इन चौसठ कलाओं के नाम शैवागम में इस प्रकार कथन किये गये हैं। गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, आलेख्य, विशेषकच्छेद्य, तण्डुलकुसुम–बलिविकार, पुष्पास्तरण, दशनवसनाङ्गराग, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचन, उदकवाद्य, उदक (घात) वाद, अद्भुतदर्शनवेदिता, मालाग्रथनकल्प, शेखरापीडयोजन, नेपथ्ययोग, कर्णपत्रभङ्ग, गन्धयुक्ति, भूषणयोजन, इन्द्रजाल, कौचुमारयोग, हस्तलाघव, चित्रशाकापूपभक्तविकारक्रियाएं, पानक–रसरागसवयोजन, सूचीवापकर्म, सूत्रक्रीडा, वीणा–डमरुकवाद्य, प्रहेलिकाप्रतिमालाएँ, दुर्वच्चकयोग, पुस्तकवाचन, नाटिकाख्यायिकादर्शन, काव्यसमस्यापूरण, पट्टि-

काव्येत्रवाण विकल्प, तर्कुकर्म, तक्षण, वास्तुविद्या रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद, मणिरागज्ञान, आकरज्ञान, वृक्षायुर्वेदयोग, मेषकुक्कुट-लावकयुद्ध विधि, शुकसारिकाप्रलापन, उत्सादन, केशमार्जनकौशल, अक्षरमुष्टिकाकथन, म्लेछितकविकल्प, देशभाषाज्ञान, पुष्पशकटिका-निमित्तज्ञान, यन्त्रमातृका, धरणमातृका, असंवाच्यसंपाठ्य मानसी काव्यक्रिया विकल्प, छलितकप्रयोग, अभिधान कोष छन्दोज्ञान, क्रियाविकल्प, ललित विकल्प, वस्त्रगोपन, द्यूतविशेष, आकषक्रीडा, बालक्रीडनक, वैनायकीविद्याज्ञान, वैजयिक विद्याज्ञान और वैता-लिकीविद्याज्ञान—यह चौसठ कलाएँ हैं। इस प्रकार ये अठारह विद्याएँ श्लोकगत 'त्रयी' शब्द से समझनी चाहिएँ।

तथा सांख्यशास्त्रं कपिलेन भगवता प्रणीतम् । तत्र त्रिविधदुःखात्यन्त-निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थं इत्यादिषडध्यायाः । तत्र प्रथमेऽध्याये विषया निरूपिताः द्वितीयेऽध्याये प्रधानकार्याणि, तृतीयेऽध्याये विषयवैराग्यम्, चतुर्थेऽध्याये विरक्तानां पिङ्गलाकुररादीनामाख्यायिकाः, पञ्चमेऽध्याये परपक्षनिर्जयः, षष्ठे सर्वार्थसंक्षेपः । प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानं सांख्यशास्त्रस्य प्रयोजनम् ॥ तथा योग-शास्त्रं भगवता पतञ्जलिना प्रणीतम् 'अथ योगानुशासनम्' इत्यादिपादचतुष्ट-यात्मकम् । तत्र प्रथमे पादे चित्तवृत्तिनिरोधात्मकं समाधिवैराग्यरूपं च तत्साधनं निरूपितम् । द्वितीये पादे विक्षिप्तचित्तस्यापि समाधिसिद्ध्यर्थं यम-नियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि निरूपितानि । तृतीयपादे योगविभूतयः । चतुर्थपादे कैवल्यमिति । तस्य च विजातीयप्रत्यय-निरोधद्वारेण निदिध्यासनसिद्धिः प्रयोजनम् ।

भगवान् कपिल ने सांख्यशास्त्र का प्रणयन किया है, उसमें "त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" इत्यादि छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में विषय का निरुपण, द्वितीय अध्याय में प्रधान के कार्य्यों का निरुपण किया गया है, तृतीय अध्याय में विषयवैराग्य और चतुर्थ अध्याय में विरक्त पिङ्गला कुररादि की आख्यायिकाएँ

हैं, पांचवें अध्याय में परपक्ष का विजय और छठे में सर्वार्थ का संक्षेप है। प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान सांख्यशास्त्र का प्रयोजन है।

तथा भगवान् पतञ्जलि ने योगशास्त्र का निर्माण किया है, उसमें 'अथ योगानुशासनम्' इत्यादि चार पाद हैं, प्रथम पाद में 'चित्तवृत्ति निरोध' रूप समाधि और उसके साधन 'वैराग्य' का निरूपण है, द्वितीय पाद में विक्षिप्तचित्त पुरुषों की समाधि की सिद्धि के लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नाम से आठ अङ्गों का निरूपण है; तृतीय पाद में योग की विभूतियों का वर्णन है, और चौथे पाद में 'कैवल्य' पर विचार किया गया है। विजातीय प्रत्ययों का निरोध करके निदिध्यासन की सिद्धि योगशास्त्र का प्रयोजन है।

तथा पशुपतिमतं पाशुपतं शास्त्रं भगवता पशुपतिना पशुपाशविमोचनाय 'अथातः पाशुपतयोगविधिं व्याख्यास्यामः' इत्यादिपञ्चाध्यायं विरचितम्। तत्राध्यायपञ्चकेनापि कार्यरूपो जीवः पशुः, कारणं पशुपतिरीश्वरः, योगः पशुपतौ चित्तसमाधानं, विधिर्भस्मना त्रिषवणस्नानादिर्निरूपितः। दुःखान्तसंज्ञको मोक्षश्चास्य प्रयोजनम्। एते एव कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ता इत्याख्यायन्ते॥ एवं शैवं मन्त्रशास्त्रमपि पाशुपतशास्त्रान्तर्गतमेव द्रष्टव्यम्॥ एवं च वैष्णवनारदादिभिः कृतं पञ्चरात्रम्। तत्र वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाश्चत्वारः पदार्था निरूपिताः। भगवान्वासुदेवः परमेश्वरः सर्वकारणं तस्मादुत्पद्यते संकर्षणाख्यो जीवस्तस्मान्मनः प्रद्युम्नस्तस्मादनिरुद्धोऽहंकारः। सर्वे चैते भगवतो वासुदेवस्यैवांशभूतास्तदभिन्ना एवेति तस्य वासुदेवस्य मनोवाक्कायवृत्तिभिराराधनं कृत्वा कृतकृत्यो भवतीत्यादि च निरूपितम्। एवं वैष्णवमन्त्रशास्त्रं परिमितमपि पञ्चरात्रमध्येऽन्तर्भूतम्। वामागमादिशास्त्रं तु वेदबाह्यमेव॥ तदेवं दर्शितः प्रस्थानभेदः।

'पशुपतिमतम्—पाशुपतशास्त्र, इसे भगवान् पशुपति ने पशुओं

को पाश से छुड़ाने के लिये 'अथातः पाशुपतयोगविधिं व्याख्यास्यामः' इत्यादि पांच अध्यायों में बनाया है, पांचों अध्यायों में कार्य्यरूप जीव ही 'पशु' है, कारण 'पशुपति' ईश्वर है. पशुपति में चित्त का समाधान ही 'योग' है, भस्म से त्रिषवण आदि स्नान ही 'विधि' है। दुःखान्तनामक 'मोक्ष' पाशुपतशास्त्र का प्रयोजन है—यही 'कार्य्य, कारण, योग, विधि, दुःखान्त' कहलाते हैं—इत्यादि वर्णन है। शैवमन्त्रशास्त्र भी पाशुपत शास्त्र के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

"वैष्णवम्"—इसी प्रकार श्री नारद आदि विरचित 'पञ्चरात्र' नामक वैष्णवशास्त्र है उसमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार पदार्थोंका निरूपण है। भगवान् वासुदेव परमेश्वर सब जगत् के कारण हैं, उन से संकर्षणनामक जीव उत्पन्न होता है। संकर्षण से प्रद्युम्ननामक मन उत्पन्न होता है और प्रद्युम्न से अनिरुद्धनामक अहङ्कार उत्पन्न होता है, और ये सब भगवान् वासुदेव के ही अंशभूत हैं अत एव उससे अभिन्न ही हैं, इसलिये मन वाणी और शरीर से उस वासुदेव का आराधन करके मनुष्य कृत-कृत्य होता है—इत्यादि निरूपण किया गया है। एवं वैष्णवमन्त्र शास्त्र (यद्यपि परिमित है तथापि) का पञ्चरात्र में ही अन्तर्भाव है। वामागम (वाममार्गवालों का) आदि शास्त्र तो वेदबाह्य ही हैं, सो इस प्रकार यह प्रस्थानभेद दिखा दिया गया है।

सर्वेषां संक्षेपेण त्रिविध एव प्रस्थानभेदः। तत्रारम्भवाद एकः, परिणामवादो द्वितीयः, विवर्तवादस्तृतीयः। पार्थिवाप्यतैजसवायवीयाश्चतुर्विधाः परमाणवो द्व्यणुकादिक्रमेण ब्रह्माण्डपर्यन्तं जगदारभन्ते। असदेव कार्यंकारणव्यापारादुत्पद्यत इति प्रथमः तार्किकाणां मीमांसकानां च। सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकप्रधानमेव महदहंकारादिक्रमेण जगदाकारेण परिणमते, पूर्वमपि सूक्ष्मरूपेण सदेव कार्यं कारणव्यापारेणाभिव्यज्यत इति द्वितीयः पक्षः सांख्ययो-

गपाशुपतानां, ब्रह्मणः परिणामो जगदिति वैष्णवानामपि । स्वप्रकाशपरमानन्दाद्वितीयं ब्रह्म स्वमायावशान्मिथ्येव जगदाकारेण कल्प्यत इति तृतीयः पक्षो ब्रह्मवादिनाम् । सर्वेषां च प्रस्थानकर्तॄणां मुनीनां विवर्तवादपर्यवसानेनाद्वितीये परमेश्वरे एव वेदान्तप्रतिपाद्ये तात्पर्यम् । नहि ते मनुयो भ्रान्ताः सर्वज्ञत्वात्तेषां, किंतु बहिर्विषयप्रवणानामापाततः परमपुरुषार्थे प्रवेशो न भवतीति नास्तिक्यनिवारणाय तैः प्रकारभेदाः प्रदर्शिताः । तत्र तेषां तात्पर्यमबुद्ध्वा वेदविरुद्धेऽप्यर्थे तेषां तात्पर्यमुत्प्रेक्षमाणास्तत्तन्मतमेवोपादेयत्वेन गृह्णन्तो जना ऋजुकुटिलनानापथजुषो भवन्तीति न सर्वेषामृजुमार्ग एव प्रवेशो, नच विपर्ययेऽपि परमेश्वराप्राप्तिरन्तःकरणशुद्धिवशेन पश्चादृजुमार्गाश्रयणादेवेत्यर्थः। हरिपक्षेऽप्येवम् ॥ ७ ॥

संक्षेप से सब के प्रस्थान तीन प्रकार में विभक्त किये जा सकते हैं, जैसे एक आरम्भवाद, दूसरा परिणामवाद और तीसरा विवर्तवाद। पृथिवी, जल, तेज और वायु चारों के चार प्रकार के परमाणु, द्व्यणुक आदि क्रम से ब्रह्माण्डपर्य्यन्त जगत् को आरम्भ करते हैं, असद् (अविद्यमान) कार्य ही कारणव्यापार के अनन्तर उत्पन्न होता है—यह प्रथम तार्किकों और मीमांसकों का मत है। सत्त्व-रजः—तमःगुणात्मक प्रधान ही महद् अहङ्कार आदि क्रम से जगदाकार में परिणत होता है, उत्पत्ति से पहले भी सूक्ष्मरूप से सत् (विद्यमान) ही कार्य्य कारणव्यापार के अनन्तर स्थूलरूप में अभिव्यक्त (प्रकट) होता है—यह द्वितीयपक्ष सांख्य, योग और पाशुपतों का है। ब्रह्म का परिणाम जगत् है—यह वैष्णवों का मत भी इसी पक्ष में समाविष्ट है। स्वप्रकाश परमानन्द अद्वितीय ब्रह्म अपनी माया के वश से मिथ्या सा जगदाकार से कल्पित किया जाता है— यह तृतीय पक्ष ब्रह्मवादियों का है। सब प्रस्थानकर्त्ता मुनियों का इसी विवर्त्तवाद में पर्य्यवसान (तात्पर्यसमाप्ति) होने से वेदान्तप्रतिपाद्य अद्वितीय परमेश्वर में ही तात्पर्य्य है, क्योंकि वे मुनि

सर्वज्ञ होने के कारण भ्रान्त नहीं हैं, किन्तु बाह्यविषयों में आसक्त पुरुषों का एकाएक परम पुरुषार्थ में प्रवेश नहीं हो सकेगा अतः नास्तिक्य के निवारण के लिये उन्होंने प्रकारभेद दिखाये हैं, उसमें उनके तात्पर्य को न जान कर वेदविरुद्ध अर्थ में उनका तात्पर्य है" ऐसी उत्प्रेक्षा करके तत्तत् मत को ही उपादेय समझ कर लोग ऋजु, कुटिल नाना मार्गों में चलते हैं अतः सब का ऋजु (श्रेयः) मार्ग में ही प्रवेश नहीं होता है, और कुटिल मार्ग में प्रवृत्त पुरुषों को ईश्वर की प्राप्ति तो नहीं होती किन्तु उस मार्ग में चलने से अन्तःकरण की शुद्धि होकर पश्चात् ऋजु मार्ग के आश्रयण से ही ईश्वर प्राप्ति होती है । हरिपक्ष में भी इसी प्रकार का अर्थ है ॥७॥

एवं सर्वशङ्कोद्धारेण हरिहरस्वरूपं निरूप्य तदेवार्वाचीनपदस्थं स्तौति—

उपर्युक्त रीति से सर्व शङ्काओं के उद्धार द्वारा श्री हरिहर के स्वरूप का निरूपण करके प्रसिद्ध नवीन रूप में विद्यमान परमात्मा की गन्धर्वराज स्तुति करते हैं:—

महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम् ।
सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रूप्रणिहितां
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥८॥

महोक्ष इति । हे वरद, तव परिपूर्णपरमेश्वरस्याप्येतत्तन्त्रोपकरणं तन्त्रस्य कुटुम्बधारणस्योपकरणं साधनम् । तदेवाह । महोक्षः महानुक्षा वृद्धवृषभः, खट्वाङ्गं खट्वाया अवयवः शस्त्रविशेषः कापालिकानां प्रसिद्धः, परशुः टङ्कः कुठारो वा; अजिनं चर्म, भस्म, पांशुः, फणिनः सर्पाः, कपालं मनुष्यशि-

गोस्थि चेति सप्तकम् । नन्वेवं दरिद्रस्तुष्टोऽपि किं दास्यतीत्यत आह—सुरा इत्यादि । सुरास्तु भवत्सेवया भवद्भ्रूप्रणिहितां भवतो भ्रूविक्षेपमात्रेण समर्पितां तां तामसोधारणीमृद्धिं संपत्तिं दधति धारयन्ति । त्वमतिदरिद्रस्त्वद्भक्तास्तु सर्वे सुरास्त्वत्प्रसादात्समृद्धा इति व्यतिरेकं तुशब्द आह । यो ह्यन्यान्धनवतः करोति स तदपेक्षयाधिकधनवान्भवतीति प्रसिद्धं लोके । ननु तर्हीदृशोऽपि स्वयं कथं महोक्षादिमात्रपरिवार इत्यत आह—नहीत्यादि । हि यस्मात्स्व आत्मनि स्वरूपे चिदानन्दघने आरमत्याक्रीडत इति तथा तं न भ्रमयति न मोहयति । विषयमृगतृष्णा विषया इन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्त एव मृगतृष्णा जलबुद्ध्या गृह्यमाणा मरीचिका । यथा मृगतृष्णा रविरश्मिरूपा जलविरुद्धस्वभावापि भ्रान्त्या जलमयीवाभासते तथा विषया अपि दुःखरूपा भ्रान्त्या सुखरूपा आभासन्त इति रूपकार्थः । यत्र जीवोऽपि स्वात्मारामतां प्राप्तो न विषयासक्तो भवति, तत्र किमु वक्तव्यं नित्यमुक्तः परमेश्वरो विषयैर्नाभिभूयत इत्यभिप्रायः । तेन वृषभारूढा खट्वाङ्गपरशुफणिकपालालंकृतचतुर्भुजा चर्मवसना भस्माङ्गरागा विविधभूषणा माहेश्वरी मूर्तिर्गुरूपदेशेन ज्ञाता स्तुत्यादिभिराराध्येत्यर्थः । वस्तुतस्तु पुरुषप्रधानमहदहंकारतन्मात्रेन्द्रियभूतानि महोक्षादिरूपेण गुप्तानि भगवन्तं महेश्वरमुपासत इत्यागमप्रसिद्धम् । तस्य जगत्कुटुम्बस्य तन्त्रान्येवोपकरणमिति निष्कर्षः ।

हे वरद ! यद्यपि आप परिपूर्ण परमेश्वर हैं तथापि महोक्ष (बूढ़ा बैल), खट्वाङ्ग (खाट का अवयव=शस्त्रविशेष, कापालिकों में प्रसिद्ध है), परशु (टङ्क=पाषाण तोड़ने का साधन या कुठार), अजिन (चर्म), भस्म, फणिनः (अनेकसर्प) और कपाल (मनुष्य के सिर की खोपरी), ये सात वस्तु आप के तन्त्रोपकरण (कुटुम्बधारण के साधन) हैं। (शङ्का) ऐसा दरिद्र महादेव सन्तुष्ट हो कर भी क्या देगा ? (समाधान) देवता लोग तो आप की सेवा से आपको तुष्ट करके आप के भ्रूविक्षेपमात्र (भौंहों के

इशारे भर) से दी गई उस उस असाधारणी सम्पत्ति को धारण कर रहे हैं। आप तो अतिदरिद्र हैं परन्तु आपके भक्त देवता आपके प्रसाद से समृद्ध (धन धान्य ऐश्वर्य्य आदि से अधिक सम्पन्न) हैं–इस विरोध को 'तु' शब्द प्रकट कर रहा है, क्योंकि जो औरों को धनवान् बनाता है वह उनकी अपेक्षा से अधिक धनवान् होता है–यह बात लोक में प्रसिद्ध है। (प्रश्न) आप ऐसे होकर भी स्वयं महोक्षादि परिवार क्यों रखते हैं ? (उत्तर) जो पुरुष चिदानन्दघन स्वात्मा में रमण करते हैं उनको विषय—मृगतृष्णा भ्रमा (मोह में डाल) नहीं सकती, जैसे सूर्य्य की किरणरूप मृगतृष्णा, जल से विरुद्ध स्वभाव वाली हो कर भी भ्रान्ति से जलमयी सी भासती है, ऐसे ही रूप रस गन्ध स्पश आदि विषय दुःखरूप हो कर भी भ्रान्ति से सुखरूप हो कर भासते हैं–यह रूपक का अर्थ है। जब जीव भी स्वात्माराम होकर विषयों में आसक्त नहीं होता तब नित्यमुक्त ईश्वर विषयों में आसक्त नहीं होता है इस बात के कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है–यह अभिप्राय है। इसलिये वृषभारूढ़ा (बैल पर चढ़ी हुई), खट्वाङ्ग–परशु–फणि–कपाल आदि से अलङ्कृता, चतुर्भुजा, चर्मवसना (गजचर्म के वस्त्र वाली), भस्माङ्गरागा (चिता का भस्म है अङ्गराग जिसका ऐसी), अनेक प्रकार के भूषणों वाली महादेवजी की मूर्त्ति की (गुरूपदेश द्वारा जान कर) स्तुति आदि से अराधना करनी चाहिए–यह अर्थ है। वस्तुतः तो 'पुरुष—प्रधान (माया)—महद्–अहङ्कार·तन्मात्रा—इन्द्रिय–भूत'–यह सातों महोक्ष आदि रूप से गुप्त होकर भगवान् महादेवजी की उपसना कर रहे हैं–यह बात शैवशास्त्र में प्रसिद्ध है। जगत् ही जिसका कुटुम्ब है ऐसे उस परमात्मा का सातों तत्त्व ही उपकरण हैं—यह निष्कर्ष (निचोड़) है।

हरिपक्षे तु महोक्षः अक्षकं 'अक्षो रथावयवके च बिभीतके स्याद-

णाणि पण्डितजना विदुरिन्द्रियाणि' इति धरणिः । महस्तेजोरूपं, भस्मफणिनः भस्मवच्छुभ्रस्य कोमलाङ्गस्य च फणिनः शेषस्याऽजिनं शरीरत्वक् खट्वा शय्या । तथा कपालं कं शिरः पाल्यतेऽनेनेति कपालं शिरउपधानं तस्यैव भस्मफणिनोऽङ्गं किंचिदुच्छ्रितावयवविशेषः । अथवा केन जलेन पाल्यत इति कपालं पद्मं शङ्खो वा तस्मिन्पक्षे भस्मफणिनोऽङ्गं अजिनं च खट्वा, अङ्गं पर्यङ्कस्थानीयं अजिनं च तदुपरि आस्तृतवस्त्रस्थानीयमिति बोद्धव्यम् । तथा परशुरिति परशुरामावताराभिप्रायेण । हे वरद, एतावत्तव तन्त्रोपकरणमित्यादिपूर्ववत् । अथवा विषयमृगतृष्णा अविद्यान्तःकरणोपरक्तं प्रतिबिम्बकल्पं जीवं व्यामोहयत्यपि राम अनन्तसत्यज्ञानानन्दात्मकत्वेन योगिनां रतिविषयं त्वां बिम्बकल्पं न मोहयति न स्वावरणांशेनाभिभवति । उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात् । कीदृशी सा । स्वात्मा स्वः सच्चिदानन्दात्मकस्त्वमेवात्मा स्वरूपं यस्याः सा, तथा त्वय्यध्यस्ता सा स्वसत्तास्फूर्तिप्रदं त्वां कथं व्यामोहयेदित्यर्थः । अत्रापि चक्रादीनां भगवद्विभूतित्वं विष्णुपुराणादौ प्रसिद्धम् ॥ ८ ॥

हरिपक्ष में 'महः' तेजःस्वरूप अक्ष (चक्र), भस्म के समान श्वेत और कोमल अङ्ग वाले फणी (शेषनाग) के अजिन (शरीर त्वचा) की खट्वा (शय्या), तथा उसी शेषनाग के शरीर के कुछ उठे हुए अवयव का (कपाल) तकिया, (अथवा पद्म या शङ्ख 'कपाल' पद का अर्थ है, इस पक्ष में शेषनाग का शरीर पर्यङ्क (शय्या) और त्वचा आस्तरण (बिछौने) के स्थान में समझनी चाहिए), और परशुरामावतार के अभिप्राय से परशु (कुठार) जानना चाहिए। हे वरद ! इतना ही आपका तन्त्रोपकरण है—इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए। अथवा विषयमृगतृष्णा (अविद्या) अन्तःकरण से उपहित प्रतिबिम्ब के समान जीव को ही व्यामोहन करती है, अनन्त सत्य ज्ञानानन्दात्मक रूप से योगियों के प्रेम के विषय और बिम्ब के समान रामरूप आपको मोहन नहीं करती है, अर्थात

अपने आवरणरूप अंश से आच्छादन नहीं करती है, क्योंकि उपाधि प्रतिबिम्ब का ही पक्षपाती होता है। वह अविद्या कैसी है? कि सच्चिदानन्दात्मक आप ही जिसके आत्मा (स्वरूप) हैं, अतः वह आप में ही अध्यस्त है, अपनी सत्ता और स्फूर्ति के देनेवाले आपको वह कैसे व्यामोहन कर सकती है?—यह अर्थ है। विष्णु-पुराण में चक्र आदि भगवान् की विभूतियाँ हैं—यह बात प्रसिद्ध है ॥८॥

एवं स्तुत्ययोर्हरिहरयोर्निर्गुणं सगुणं च स्वरूपं निरूपितम्, संप्रति स्तुतेः प्रकारं निरूपयन्स्तौति—

श्री हरिहर के निर्गुण और सगुण स्वरूप का निरूपण करके अब स्तुति के प्रकारों को दिखाते हुए श्री गन्धर्वराज स्तुति करते हैं:—

ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये ।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन तैर्विस्मित इव
स्तुवञ्जिह्रेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥९॥

ध्रुवमिति । हे पुरमथन, तैः स्तुतिप्रकारैस्त्वां स्तुवन्न जिह्रेमि नाहं लज्जे । विस्मित इव जातचमत्कार इव । यथा कश्चिदद्भुतं दृष्ट्वा विस्मितस्तत्परवशत्वा-ल्लोकोपहासमगणयित्वा विचेष्टते तथाहमपि स्तोतुमयं न जानातीति जनो मामुपहसिष्यतीति लज्जामगणयन् त्वत्स्तुतौ प्रवृत्तोऽस्मीत्यर्थः । तैः कैः प्रकारैरित्याह । ध्रुवमित्यादि । कश्चित्कोऽपि सांख्यपातञ्जलमतानुसारी सर्वं समग्रं जगद्ध्रुवं जन्मनिधनरहितं सदेव गदति । व्यक्तं वदतीत्यर्थः । नह्यसत उत्पत्तिः संभवति न

वा सतो विनाश इत्याविर्भावतिरोभावमात्रमुत्पत्तिविनाशशब्दाभ्यामभिलक्ष्यते । तेन परमेश्वरोऽपि तावन्मात्रस्येष्टे न त्वसत उत्पत्तेः, सतो वा विनाशस्येत्यभिप्रायः—इति सत्कार्यवाद एकः पक्षः । तथाऽपरोऽन्यः सुगतमतानुवर्ती सकलमिदमध्रुवं क्षणिकमिति गदति । नहि सतः स्थिरत्वं संभवति । अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वम् । तच्च सदर्थस्य क्षणयोगेन न विलम्बेनोत्पद्यते इति । एकस्मिन्क्षणे सर्वार्थक्रियासमाप्तेरुत्तरक्षणेऽसत्त्वमेव । तथाच परमेश्वरस्यापि क्षणिकविज्ञानसंतानरूपत्वादसावसत उत्पत्तेरीष्टे नतु सतः स्थिरत्वायेति द्वितीयः पक्षः सर्वक्षणिकतावादलक्षणः ॥ तदुभयपक्षासहिष्णुश्च परस्तार्किकः समस्तेऽप्येनस्मिञ्जगति ध्रौव्याध्रौव्ये नित्यत्वानित्यत्वे व्यस्तविषये भिन्नधर्मवर्तिनी गदति (आकाशादिचतुष्कपृथिव्यादिचतुष्कपरमाणवश्च नित्याः) आकाशकालदिगात्ममनः पृथिव्यादिपरमाणवश्च नित्याः इति वा । कार्यद्रव्याणि चानित्यानि । तथा चानित्यानामुत्पत्तिविनाशयोरीष्टे परमेश्वरो नतु नित्यानामपीत्यर्थः—इत्येवं तृतीयः पक्षः । तथाच त्रिष्वप्येतेषु द्वैताङ्गीकारादद्वितीयसन्मात्ररूपस्य परमेश्वरस्य स्पर्शोऽपि नास्तीति सोपाधिकसंकुचितैश्वर्यरूपेण स्तुतिः सर्वथा लज्जाकरीत्यर्थः । तर्हि किमिति न लज्जस इत्यत आह । ननु अहो खलु निश्चितं मुखरता वाचालता धृष्टा निर्लज्जा । तथाच मुखरतैव लज्जामपहरतीत्यर्थः । एवं सर्वप्रकारप्रवादकथादादीनामाभासत्वमुक्तम्, अद्वितीयवादस्यैव लज्जानास्पदत्वेन सत्यत्वमिति द्रष्टव्यम् । एतच्च 'त्वमर्कस्त्वं सोमः' इत्यादौ स्पष्टीकरिष्यते। हरिपक्षेऽप्येवम् । तत्र पुरमथनशब्दः प्राग्व्याख्यातः ॥ ६ ॥

हे पुरमथन ! तत्तत् स्तुतिप्रकारों से आप की स्तुति करता हुआ मैं चमत्कार को प्राप्त हुए पुरुष के समान लज्जित नहीं होता हूँ, जैसे कोई पुरुष किसी अद्भुत वस्तु को देखकर आश्चर्ययुक्त तथा उसके वश में होकर लोक के उपहास की अपेक्षा न करके अपने हर्ष और आश्चर्य को प्रकाशन करने की चेष्टा करता है, ऐसे ही मैं भी "यह स्तुति करना नहीं जानता है—इस प्रकार लोग मेरा उपहास करेंगे"—इस लज्जा की चिन्ता न करके आपकी

स्तुति में प्रवृत्त हुआ हूँ। उन्हीं स्तुतिप्रकारों को कथन करते हैं, 'ध्रुवमिति'—कोई सांख्य पातञ्जल मतानुसारी पुरुष सम्पूर्ण जगत् को उत्पत्ति नाश से रहित सद्रूप ही कहता है, क्योंकि असत् वस्तु की न तो उत्पत्ति ही सम्भव है और न नाश ही, अतः आविर्भाव (प्रकट होना) और तिरोभाव (छिप जाना) ही उत्पत्ति और विनाश शब्द का अर्थ है, अतः परमेश्वर भी पदार्थों के आविर्भाव और तिरोभावमात्र में समर्थ हैं न कि असत् की उत्पत्ति या सत् के विनाश में—यह 'सत्कार्यवाद' एक पक्ष है। तथा अन्य सुगत (बौद्ध) मतानुवर्त्ती पुरुष इस सम्पूर्ण संसार को अध्रुव (क्षणिक) कहता है, क्योंकि कोई सत् वस्तु स्थिर नहीं हो सकती है, अर्थक्रियाकारित्व (अर्थ और क्रिया का करना) ही सत्ता है, वह अर्थक्रियाकारित्व सद्वस्तु में तभी हो सकता है यदि उसकी क्षणमात्र ही स्थिति मानी जाय, क्योंकि विलम्ब से अर्थक्रियाकारित्व का उपपादन नहीं हो सकता, एक क्षण में सब अर्थक्रियाकारित्व की समाप्ति हो कर द्वितीय क्षण में असत्त्व ही रह जाता है, तथा च परमेश्वर भी क्षणिक विज्ञान का सन्तानरूप ही है, वह असत् की उत्पत्तिमात्र में समर्थ है सत् की स्थिरता में नहीं—यह द्वितीय पक्ष 'सर्वक्षणिकतावाद' रूप है। इन दोनों मतों को सहन न करता हुआ तीसरा तार्किक पुरुष इस जगत् में भिन्न भिन्न अधिकरण में रहने वाले नित्यत्व और अनित्यत्व धर्मों का कथन करता है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन और पृथिव्यादि के परमाणु नित्य हैं, और शेष कार्य्यद्रव्य अनित्य हैं, तथा च ईश्वर केवल अनित्य पदार्थों की उत्पत्ति और नाश में समर्थ है न कि नित्य पदार्थों के भी—यह तृतीय पक्ष है। इस प्रकार इन तीनों पक्षों में द्वैत का अङ्गीकार होने से अद्वितीय सन्मात्र परमेश्वर का स्पर्श भी नहीं है, इसलिये सोपाधिक तथा संकुचित ऐश्वर्य्यरूप से

स्तुति सर्वथा लज्जाकरी (लज्जा के योग्य) है । तब तुम ऐसी स्तुति करते हुए क्यों नहीं लज्जित होते ? इस के उत्तर में गन्धर्वराज कहते हैं, अहो ! निश्चयपूर्वक मुखरता (बहुत बोलना) धृष्टा (निर्लज्जा) है, तथा च यह मुखरता ही मेरी लज्जा का अपहरण (नाश) कर रही है । इस रीति से सब प्रकार के पण्डितों के वाद (वाक्य) मिथ्या हैं, केवल अद्वितीय वाद ही लज्जा के अयोग्य होने से सत्य है—ऐसा जानना चाहिए । यही अर्थ 'त्वमर्कस्त्वं सोमः इत्यादि पद्य में स्पष्ट किया जायगा । हरिपक्ष में भी ऐसा ही अर्थ है—इस पक्ष में पुरमथन पद का व्याख्यान तृतीय श्लोक में कर चुके हैं ॥ ९ ॥

एवं श्लोकनवकेन स्तुतिसामग्रीं निरूप्य स्तुतौ प्रस्तुतायां समस्तप्रभाववतामग्रेसरयोर्हरिविरिञ्च्योरपि त्वत्प्रसादादेव त्वत्साक्षात्कार इत्येवं निरतिशयं माहात्म्यं प्रकटयन्स्तौति—

पूर्व नौ श्लोकों से स्तुति की सामग्री को निरूपण करके स्तुति के आरम्भ में "सम्पूर्ण प्रभाववानों में से प्रधान श्रीविष्णु और ब्रह्मा जी को भी आपका साक्षात्कार आपके अनुग्रह से ही हुआ है"—इस प्रकार अत्यन्त माहात्म्य को प्रकट करते हुए श्रीपुष्पदन्त स्तुति करते हैं:—

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिंचिर्हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश य-
त्स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥ १० ॥

तवेति । हे गिरिश, तवानुवृत्तिः सेवा किं न फलति । अपितु सर्वमेव फलति । त्वत्साक्षात्कारपर्यन्तं फलं ददातीत्यर्थः । तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणतां द्रढयितुं भगवदनुवृत्तिव्यतिरेके फलव्यतिरेकमाह । यद्यस्मादनलस्कन्धवपुषस्तेजःपुञ्जमूर्तेस्तवैश्वर्यं स्थूलं रूपं परिच्छेत्तुमियत्तयावधारयितुमुपर्यूर्ध्वं विरंचिर्ब्रह्मा अधोऽधस्ताद्धरिर्विष्णुः यत्नात्सर्वप्रयत्नेन यावद्गन्तुं शक्तौ तावद्यातौ गतौ अनलं नाऽलम् । न परिच्छेत्तुं समर्थावित्यर्थः । यत्र स्थूलरूपमप्यपरिच्छेद्यं तत्र दूरे सूक्ष्मरूपपरिच्छेदसंभावना । तेन त्वदनुवृत्तिं विना हरिविरंच्योः प्रसिद्धमहाप्रभावयोरपि त्वं न विज्ञेयस्तत्र का वार्ताऽन्येषामिति व्यतिरेकमुक्त्वाऽन्वयमाह । ततस्तस्मा(त्कारणा)त्त्वयत्नवैफल्यादनन्तरं ताभ्यां हरिविरंचिभ्याम् । 'श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः' इति चतुर्थी । तयोर्ज्ञानायेत्यर्थः । कीदृशाभ्यां भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्याम् । भक्तिरत्र कायिकी सेवा, श्रद्धास्तिक्यबुद्धिः (मानसी सेवा), तयोर्भरोऽतिशयस्तेन गुरु श्रेष्ठं निरतिशयं यथा तथा गृणद्भ्यां स्तुवद्भ्यां वाचिकीं सेवां कुर्वद्भ्याम् । यद्वा गुरुतरं भवनि शिलोच्चयादि तत्पवनपर्जन्यादिभिर्न विक्रियामुपैति अलघुद्रव्यत्वात्, तथा स्तुतिरप्यतिगौरववती शिलोच्चयादिस्थानीया पवनपर्जन्यस्थानीयैर्विघ्नैश्चालयितुं न शक्येति गुरुशब्देन ध्वनितम् । एवंरूपेण तवैश्वर्यं स्तुवद्भ्यां ताभ्यां किमित्याह । स्वयं तस्थे स्वयमेव नतु तयोः प्रयत्नेन तस्थे स्वमात्मानं प्रकाशयति स्म । अत्र तवैश्वर्यमिति कर्तृपदं द्रष्टव्यम् । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् । यद्वा गृणद्भ्यामिति कर्तरि तृतीया । तस्थे स्थितं निवृत्तमिति भावप्रत्ययः । ततस्तयोर्निवृत्तावपि किं तवानुवृत्तिर्न फलति । अपितु फलत्येवेत्यर्थः । तस्मादेव हरिविरंचिभ्यामपि त्वदनुवृत्त्यैव त्वं साक्षात्कृतः का वार्ताऽन्येषामित्यन्वय उक्तः । एवं त्वदनुवृत्तिरेव सर्वं फलतीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढीकृतम् ।

हे गिरिश ! (महादेव जी का नाम) आपकी सेवा कौन सा फल नहीं फलती है ? किन्तु सभी फलों को फलती है, अर्थात् आपके साक्षात्कार-पर्य्यन्त फलों को देती है । अन्वयव्यतिरेक से कारणता को

दृढ़ करने के लिये, भगवान् महादेव की सेवा के अभाव में साक्षात्कार-आदिरूप फल का अभाव दिखाते हैं कि—आपकी तेजःपुञ्जमयी मूर्त्ति के ऐश्वर्य्य (स्थूलरूप) की अन्तिम सीमा का निश्चय करने के लिये ऊपर को ब्रह्मा जी और नीचे को श्री विष्णु महाराज सर्व-प्रयत्न से जहां तक जा सकते थे गये, परन्तु आप का पार पाने में असमर्थ रहे ! जब आप का स्थूलरूप भी अपरिच्छेद्य (नापा नहीं जा सकता) है तब सूक्ष्मरूप के परिच्छेद (नाप) की सम्भावना तो दूर रही। अतः जब विष्णु भगवान् और ब्रह्मा जी भी (जिनका महाप्रभाव अतिप्रसिद्ध है) आप की सेवा के बिना आप को नहीं जान सके तब औरों की तो बात ही क्या है ! इस प्रकार व्यतिरेकन्याय को कह कर अन्वय को कहते हैं कि जब विष्णु महाराज और ब्रह्माजी अपने उस प्रयत्न में सफल न हो सके तब उन दोनों ने आप को जानने के लिये अतिशय भक्ति (शारीरिक सेवा) और श्रद्धा (आस्तिक्य बुद्धि, मानसी सेवा) से आपकी गुरु (श्रेष्ठ) और अत्यधिक स्तुति (वाचिकी सेवा) की। 'गुरु' विशेषण का यह तात्पर्य्य है कि जो पर्वत आदि गुरु (भारी) वस्तु हैं वह हलकी न होने से पवन मेघ आदि से विकार को प्राप्त नहीं होती हैं, ऐसे ही स्तुति भी पर्वत के समान एक बड़ी भारी वस्तु है, विघ्न रूप पवन मेघ आदि उसे हिला डुला नहीं सकते। जब इस प्रकार वे दोनों आपकी स्तुति में तत्पर हुए तो उस समय आपके ऐश्वर्य्य ने अपने स्वरूप को स्वयमेव प्रकाशन कर दिया ! यहाँ 'तवैश्वर्य्यम्' यह कर्तृवाचक पद है, 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इस सूत्र से 'तस्थे' आत्मनेपद है। अथवा 'गृणद्भ्याम्' यह कर्त्ता में तृतीया है, 'तस्थे' का अर्थ 'निवृत्त हुए' है और 'तस्थे' पद में भाव में प्रत्यय है। अर्थात् स्तुति करते करते जब वे दोनों निवृत्त हो गये, तब उन के निवृत्त होने पर भी क्या उनकी सेवा (भक्ति) निष्फल हुई ?

नहीं, किन्तु अवश्य सफल हुई, अर्थात् आपने उनको दर्शन दिया। श्रीविष्णु और ब्रह्माजी ने भी आपकी भक्ति से ही आपका साक्षात्कार किया, औरों की तो बात ही क्या है—यह अन्वय है। यहाँ तक 'आपकी सेवा ही सम्पूर्ण फलों को देती है'—इतना अर्थ अन्वय व्यतिरेक से दृढ़ किया गया।

हरिपक्षे तु गिरौ गोवर्धनाख्ये शेते गोपी रमयन्निति गिरिशः श्रीविष्णुः। अथवा गिरिं मन्दरं श्यति तनूकरोति क्षीरोदं मथन्निति गिरिशः। योजनिका पूर्ववत्। हरिः सर्पः शेषः विरिंचिशेषाभ्यामपि त्वत्कृपयैव त्वं प्राप्त इति पूर्ववत्सर्वम्। अत्र 'अनिल' इति क्वचित्पाठः स न सांप्रदायिकः। तथा चान्यत्रोक्तम् 'नोर्ध्वं गम्यः सरसिजभुवो नाप्यधः शार्ङ्गपाणेरासीदन्तस्तव हुतवहस्कन्धमूर्त्या स्थितस्य' इति ॥ १० ॥

हरिपक्ष में गोवर्धन नामक गिरि पर गोपियों से रमण करते हुए जो शयन करते हैं वे श्री विष्णु भगवान् 'गिरिश' पद के वाच्य हैं, अथवा मन्दर नामक गिरि को जो क्षीरसागर के मन्थनसमय में (श्यति तनूकरोति) सूक्ष्म करते हैं, वे श्री विष्णु भगवान् 'गिरीश' हैं—ऐसी योजना है। हरि (साँप, शेषनाग) और ब्रह्माजी ने आपकी कृपा से ही आपका दर्शन किया—इत्यादि पूर्ववत् समझना। इस पद्य में 'अनिल' ऐसा पाठ किसी किसी पुस्तक में है वह सम्प्रदायसिद्ध नहीं है, क्योंकि अन्यत्र 'नोर्ध्वं गम्यः सरसिजभुवो नाप्यधः शार्ङ्गपाणे—रासीदन्तस्तव हुतवहस्कन्धमूर्त्या स्थितस्य' इत्यादि पद्यों में 'हुतवह' अर्थात् अग्निस्कन्धरूप मूर्ति ही शिवजी की कही गई है न कि अनिल (वायु) रूप ॥१०॥

अथ बलिरावणयोरसुरयोरपि भगवदनुग्रहं दर्शयन्स्तौति—

अब बलि और रावण नामक असुरों पर भी भगवान् का अनुग्रह दिखाते हुए गन्धर्वराज स्तुति करते हैं:—

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान् ।
शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ॥११॥

अयत्नादिति । हे त्रिपुरहर, स्थिराया निश्चलायास्त्वद्भक्तेस्तव सेवायाः विस्फूर्जितमिदं प्रभावोऽयम् । किंविशिष्टायास्त्वद्भक्तेः । शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः । शिरांस्येव पद्मानि अर्थाद्रावणस्य तेषां श्रेणी पङ्क्तिस्तया रचितः कल्पितश्चरणाम्भोरुहयोः पादपद्मयोर्बलिरुपहारो यस्यां सा तथा । रावणेन हि नवभिर्निजशिरोभिः स्वहस्तकृत्तैः शंभोरुपहारः कृत इति पुराणप्रसिद्धम् । किं तद्विस्फूर्जितमित्यत आह । यद् दशास्यो रावणो बाहून्विंशतिभुजान् । कीदृशान् । रणाय युद्धाय कण्डूः खर्जूः अतिस्पृहेति यावत् । तया परवशांस्तदधीनानभृत धृतवान् । रणकण्डूर्हि रणेनैव निवर्तते रणासंभवाच्च सर्वदा कण्डूरेव तद्भुजेष्वित्ति भावः । तर्हि रणं संपाद्य किमिति तत्कण्डूं न निवर्तयतीति चेन्न, प्रतिमल्लाभावादित्याह । त्रिभुवनं त्रैलोक्यमवैरव्यतिकरं न विद्यते वैरस्य विरोधस्य व्यतिकरः कारणं दर्पादि यत्र तत्तथा आपाद्य संपाद्य । त्रैलोक्यवर्तिनो वीरानिन्द्रादीन्स्वदास्यं नीत्वेत्यर्थः । तदप्ययत्नेनैव । स्वयमेव रावणपराक्रमं श्रुत्वा सर्वे वीरा दर्पादि त्यक्तवन्त इत्यर्थः । तथा चानायासेनैव निर्जितत्रिजगतो रावणस्य भुजानां कण्डूर्नैव शान्तेत्येष शौर्यातिशयो भगवद्भक्तेरेव प्रभाव इत्यर्थः । 'आसाद्य' इति क्वचित्पाठः । तस्य प्राप्येत्यर्थः ।

हे त्रिपुरहर! आपकी उस निश्चल भक्ति (सेवा) का ही यह प्रभाव है कि जिस भक्ति से 'रावण ने आपके चरणकमलों में अपने मस्तकरूप पद्मों की श्रेणी (पङ्क्ति) को बलि दे दिया था, पुराण में यह प्रसिद्ध है कि रावण ने अपने नौ मस्तकों को अपने हाथ से काट कर महादेव जी की भेंट किया था । वह कौनसा प्रभाव है?

इसके समाधान में कहते हैं कि रावण की बांस भुजाएँ सदा रण-कण्डू (युद्ध की खुजलाहट) को ही चाहती रहीं, अर्थात् रणकण्डू रण से ही शान्त होती है, रण के न हो सकने के कारण उसकी भुजाएँ सदा युद्ध के लिये खुजलाती रहीं। रावण ने युद्ध सम्पादन करके अपनी रणकण्डू शान्त क्यों न कर ली ? इसके समाधान में कहते हैं कि उसने त्रिभुवन को अवैरव्यतिकर (वैर के कारण का अभाव) कर लिया था अर्थात् त्रैलोक्यवर्त्ती इन्द्र आदि वीरों को बिना ही यत्न के अपने वश में कर लिया था, वे रावण के पराक्रम को सुनकर अपना अपना अहङ्कार छोड़ कर उसकी शरण में आ गये थे, इस प्रकार बिना युद्ध के ही उसने त्रिलोकी को जीत लिया था, ऐसी दशा में उसकी रणकण्डू शान्त कैसे होती ? यह रावण की शूरता का अतिशय प्रभाव आपकी भक्ति का ही फल है।

हरिपक्षे तु त्रीणि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यानि पुराणि भक्तानां जीवानां स्वसाक्षात्कारेण हरतीति त्रिपुरहरो विष्णुः। हे त्रिपुरहर मोक्षदायक विष्णो, दशास्यो यत्तादृशान् बाहून्भुजानभृत तत्त्वद्भक्तेरेव पूर्वं कृताया इदानीं फल-रूपेण परिणममानायाः, अतएव स्थिराया अनेककल्पव्यवधानेऽपि यावत्फल-पर्यन्तं स्थायिन्यास्तव सेवाया विस्फूर्जितमिदं नान्यस्य प्रभावोऽयमित्यर्थः। त्वदीयवैकुण्ठपुरद्वारपालस्य पार्षदप्रवरस्य ब्रह्मशापव्याजेन त्वदिच्छयैवासुरीं योनिमनुभवतोऽपि रावणस्य त्वद्भक्तिप्रभावादेव निरतिशयं पौरुषमित्यर्थः। तथाच बलेर्वैरोचनेः त्वद्भक्तेर्विस्फूर्जितमिदं यागशालायां त्वदागमनत्वत्पाणि-तोयदानत्वच्चरणाम्बुजस्पर्शनादि एतत्सर्वं सूचयन्संबोधयति हे शिरःपद्मश्रेणी-रचितचरणाम्भोरुह। अत्रापि बलेरिति संबध्यते। बलेः शिर एव पद्मश्रेणी पद्ममयी निःश्रेणिका पादविक्षेपभूमिस्तस्यां रचितमर्पितं चरणाम्भोरुहं येन स तथा। योगपद्मपीठे हि भगवच्चरणारविन्दं तिष्ठतीति शास्त्रप्रसिद्धेः। भग-वच्चरणारविन्दाधारत्वेन बलेः शिरोऽपि पद्मपीठत्वेन निरूपितम्। शिरः-शब्दस्य नित्यसापेक्षत्वाच्चात्र सापेक्षसमासो न दोषाय, देवदत्तस्य गुरुकुल-

मितिवत् । बलिना खलु भगवद्वामनावतारप्रार्थनया पदत्रयमिता भूमिर्देयेति प्रतिज्ञातं, तत्र पदद्वयेनैव सर्वस्मिञ्जगति भगवताक्रान्ते स्वसत्यपालनाय तृतीयपदस्थाने स्वशिर एव बलिना दत्तं, तच्च भगवता स्वपादाम्बुजेनावष्टब्धमिति पुराणप्रसिद्धम् । नह्येतादृशः प्रसादो ब्रह्मादिभिरपि लब्धोऽस्ति । तस्माद्बलिकृतायास्त्वद्भक्तेरेव प्रभावोऽयमित्यर्थः ॥ ११ ॥

हरिपक्ष में; भक्तों के जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति नामक तीन पुरों को स्वसाक्षात्कार से हरते हैं अतः श्रीविष्णु का नाम 'त्रिपुरहर' है । हे त्रिपुरहर ! हे मोक्षदायक विष्णो ! दशास्य (रावण) पूर्ववर्णित भुजाओं को जो धारण करता है वह आपकी पूर्वजन्म में की गई भक्ति का ही फल है जो इस समय फलरूप में परिणाम को प्राप्त हो रही है, अतएव अनेक कल्पों के व्यवधान (अन्तरा) हो जाने पर भी फलपर्य्यन्त तक स्थिर रहने वाली आपकी सेवा का हो यह प्रभाव है । ब्रह्मशाप के मिष से तथा आपकी इच्छा से ही आसुरी योनि को अनुभव करते हुए भी आपके वैकुण्ठपुर के द्वारपाल श्रेष्ठ पार्षद रावण का यह निरतिशय पौरुष आपकी भक्ति के प्रभाव से ही है ।

इसी प्रकार विरोचन के पुत्र बलि को आपकी भक्ति का ही यह प्रभाव प्राप्त हुआ है, बलि की यज्ञशाला में आपका आना, आपके हाथ में संकल्पजल का देना और आपके चरणकमल का स्पर्श होना आदि सब वृत्तान्त को सूचन करते हुए गन्धर्वराज सम्बोधन करते हैं, हे बलेःशिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुह ! (बलि का मस्तक रूप जो पद्म है वही चरण रखने की भूमि है, उसमें रखा है चरणकमल जिन्होंने ऐसे हे विष्णो !), योगपद्मपीठ पर भगवान् के चरणारविन्द विराजते हैं—यह शास्त्रप्रसिद्ध है, भगवच्चरणारविन्द का आधार होने के कारण बलि के मस्तक को भी यहां पद्मपीठ रूप से निरूपण किया गया है, शिरःशब्द के

नित्यसापेक्ष होने के कारण यहां सापेक्षसमास 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' के समान दोष करनेवाला नहीं है । बलि ने भगवद् वामनावतार की प्रार्थना पर तीन चरण भूमि देने की प्रतिज्ञा की, जब भगवान् ने दो चरणों से सर्व जगत् को आक्रान्त (स्वाधीन) कर लिया तब बलि ने अपने सत्य को पालने के लिये तृतीय पदस्थान में अपने मस्तक को दे दिया और उस मस्तक को भगवान् ने अपने चरणकमल से अवलम्बन किया—इत्यादि कथा पुराण में प्रसिद्ध है । ऐसा अनुग्रह तो ब्रह्मा आदि को भी प्राप्त नहीं हुआ इसलिये बलि से की गई आपकी भक्ति का ही यह प्रभाव है ॥ ११ ॥

एवं बलिरावणयोर्भक्तिवशादनुग्रहं प्रदर्श्य तयोरेव दर्पवशान्निग्रहं प्रदर्शयन्स्तौति—

इस प्रकार भक्ति के कारण बलि और रावण पर भगवान् का अनुग्रह दिखा कर अब गर्व के कारण उन पर भगवान् का निग्रह (दण्ड) दिखाते हुए श्री पुष्पदन्त स्तुति करते हैं:—

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद्ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥१२॥

अमुष्येति । हे त्रिपुरहर, अमुष्य पूर्वोक्तस्य रावणस्य प्रतिष्ठा स्थितिः त्वयि अलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि सति पातालेऽप्यलभ्या आसीत् । अलसं मन्दं यथा स्यात्तथा चलितं कम्पितमङ्गुष्ठशिरोऽङ्गुष्ठाग्रं येन स तथा तस्मिन् । चलितमिति ह्रस्वत्वं च कम्पतेश्चलतेर्मित्त्वानुशासनात् । तथाच तवाङ्गुष्ठकम्प-

मात्रेणैव तस्य वीराभिमानिनोऽधःप्रवेशोऽशक्यप्रतीकार आसीदित्यर्थः। अमुष्य किं कुर्वतः। त्वदधिवसतावपि कैलासे तव मन्दिरेऽपि स्फटिकगिरौ भुजवनं भुजषण्डं विंशतिसंख्याकं बलाद्विक्रमयतोऽतिशौर्येण व्यापारयतः। इममुत्पाट्य लङ्कायां नेष्यामीत्यभिप्रायेण भुजचेष्टां कुर्वत इत्यर्थः। कीदृशं भुजवनम्। त्वत्सेवासमधिगतसारं तव सेवया समधिगतः प्राप्तः सारो बलं येन तत्तथा। त्वत्प्रसादेनैव बलमासाद्य त्वद्गृहमुत्पाटयतीत्यहो कृतघ्नता मौढ्यं चेत्यभिप्रायः। एवं हि पुराणप्रसिद्धम् 'भगवत्प्रसादादासादितबलेन रावणेन स्वबलपरीक्षार्थं भगवन्निवासस्यापि कैलासस्योत्पाटनमारब्धम्। ततश्च पार्वत्या भीतया प्रार्थितो भगवान्कैलासस्याधोगमनार्थमङ्गुष्ठाग्रमात्रं शनैर्व्यापारयामास। तावन्मात्रेणैव क्षीणबलो रावणः पातालं प्रविवेश। पुनश्च भगवता करुणया समुद्धृतः' इति। ननु भगवत्प्रसादाल्लब्धवरो रावणः कथं भगवन्तं तदानीं विस्मृतवानित्यत आह। ध्रुवं निश्चितं उपचितः समृद्धः सन् खलः कृतघ्नो मुह्यति कृतं विस्मरति। स्वोपचयहेतुमपि न गणयतीत्यर्थः।

हे त्रिपुरहर ! अंगूठे के अग्र भाग को थोड़ा सा हिलाते ही उस रावण को पाताल में भी स्थिति न मिली अर्थात् आपके 'अङ्गुष्ठ के कम्पनमात्र से उस वीर अभिमानी का अधःपतन अशक्यप्रतीकार (अनिवार्य्य) हो गया। किस अपराध से उसकी ऐसी अधोगति हुई ? इसके उत्तर में कहते हैं, यतःवह आपकी निवासभूमि स्फटिकगिरि कैलाश पर (इसे उखाड़ कर लङ्का में ले जाऊँगा—इस अभिप्राय से) अपनी बीस भुजाओं से बलपूर्वक अपने विक्रम को दिखा रहा था जिन भुजाओं में आपकी ही सेवा से अपार बल का सञ्चार हुआ था, रावण की मूढ़ता को देखिये कि आपके अनुग्रह से ही बल पाकर उन भुजाओं से आपके ही मन्दिर को उखाड़ने लगा—यह अभिप्राय है। पुराण में ऐसा प्रसिद्ध है कि रावण ने भगवान् महादेव के अनुग्रह से बल पाकर अपने बल की परीक्षा के लिये महादेवजी के निवासस्थान कैलाश को ही उखाड़ना आरम्भ

किया, उस समय पार्वती जी ने भयभीत होकर महादेव जी से प्रार्थना की, तब उन्होंने रावण को कैलाश से नीचे गिराने के लिये अंगूठे के अग्रभागमात्र से शनैः ठोकर मारी, उतने ही से रावण पाताल में जा गिरा, और फिर वहां से भगवान् ने ही करुणा करके उसे उठाया"। (प्रश्न) भगवान् के अनुग्रह से ही बल पाकर रावण उस समय भगवान् को क्यों भूल गया? (उत्तर) यह बात निश्चित है कि खल पुरुष समृद्ध होकर मोह को प्राप्त हो जाता है, किये हुए उपकार को भी भूल जाता है, अर्थात् अपनी वृद्धि के हेतु को भी कुछ नहीं समझता है।

हरिपक्षे तु। कैलासे केलिः क्रीडा सैव प्रयोजनमस्येति कैलः कैलोऽसिः खड्गो यस्य सः कैलासिः। इच्छामात्रेण निर्जितसर्वशत्रोरपि तव क्रीडार्थमेव नन्दकधारणमित्यर्थः। अमुष्य बलेः त्वदधिवसतौ त्वन्निवासे तव स्वत्वास्पदीभूतेऽपि त्रैलोक्ये बलान्मदीयमिदं त्रैलोक्यमिति स्वत्वाभिमानाद्भुजवनं हस्तोदकं विक्रमयतः मम स्वत्वत्यागपूर्वकमेतस्य प्रतिग्रहीतुः स्वत्वमुत्पादयामीत्यभिप्रायेण भगवतः पाणावुदकं प्रयच्छतः। कीदृशं भुजवनम्। त्वत्सेवया समधिगतः सारः सौभाग्यविशेषो येन तत्तथा। तव पाणिपद्मसंबन्धेनातितरां शोभमानमुदकमित्यर्थः। तथाच सर्वजगन्निवासस्य तव स्वत्वास्पदीभूतं यत्तन्मदीयमिति मत्वा तुभ्यं ददतो बलेर्महानेवापराधः। त्वया तु परमकारुणिकेन प्रतिज्ञातविक्रमत्रयमितभूमिदानेऽपि तस्यासामर्थ्यमासाद्य तस्य मत्ततानिवृत्तये योग्य एव दण्डः कृत इत्याह। त्वयि अलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि सति तस्य प्रतिष्ठा स्थितिः पातालेऽप्यलभ्यासीत् का वार्ता स्वर्गमर्त्ययोः। अथवा पाताले विद्यमानस्यापि बलेरिन्द्रादिभिरप्यलभ्या प्रतिष्ठा कीर्तिरासीत्। तत्र सर्वदा भगवतः संनिहितत्वादिति भावः। अलसं सलीलं चलितः कम्पितोऽङ्गुष्ठः शिरसि अर्थाद्बलेर्येन तस्मिन्। तथा तृतीयविक्रमभूम्यर्थं बलिना शिरसि प्रसारिते तत्र च त्वदीयपादाङ्गुष्ठसंबन्धमात्रेणैव तस्य पातालप्रवेशो जात इत्यर्थः। ध्रुवमुपचित इत्याद्यर्थान्तरन्यासः पूर्ववत्। अथवा खलोऽयमसुरो

बलिरुपचितः मुह्यति । अतो मोहनिवृत्तयेऽपचितः कर्तव्य इति भगवतोऽभिप्रायवर्णनम् । 'यस्याहमनुगृह्णामि तस्य वित्तं हराम्यहम्' इति भगवद्वचनात् ॥ १२॥

हरिपक्ष में, हे कैलासे ! (केलि (क्रीडा) है प्रयोजन जिसका ऐसा कैल है असि (खड्ग) जिनका वह विष्णु भगवान् "कैलासि" कहलाते हैं, (अर्थात् भगवान् यद्यपि इच्छामात्र से ही शत्रुओं को जीत सकते हैं तथापि क्रीडा के लिये ही 'नन्दक' नामक खड्ग को धारण करते हैं)। जिस बलि ने आपकी 'अधिवसति' (निवासस्थान) में (अर्थात् जो त्रिलोकी आपका स्वत्व (धन) है उसमें) बल से 'यह त्रैलोक्य मेरा ही है'—इस प्रकार स्वत्व का अभिमान करके वामनरूप भगवान् के हाथ में भुजवन (हस्तजल) को (तीन पाद भूमिदान का संकल्प करते समय) दिया था, जो जल भगवान् के करकमल में जाकर अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रहा था, उस बलि को आपने उचित ही दण्ड दिया। अर्थात् आप सम्पूर्ण जगत् में निवास कर रहे हैं, इस प्रकार जो जगत् आपका निवासस्थान है, अत एव जो आपकी विभूति है उसे बलि का मिथ्या ही अपना मान कर आप को ही दान करना एक महान् अपराध है, तथापि आप परम करुणावान् हैं जो आपने तीन पाद भूमि के दान में भी उसका असामर्थ्य दिखाकर उसके मद और ममता की निवृत्ति के लिये उसको योग्य दण्ड दिया। इसी अर्थ को कहते हैं कि जब आपने आलस्यपूर्वक अंगूठे के अग्रभाग को हिलाया तब उस बलि को पाताल में भी स्थिति नहीं मिली, स्वर्ग और मर्त्यलोक की तो वार्त्ता ही क्या है ! अथवा पाताल में भी विद्यमान बलि की इन्द्र आदि से भी बढ़ कर प्रतिष्ठा हो गई, क्योंकि पाताल में भगवान् सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं। जब भगवाम् ने लीलापूर्वक बलि के मस्तक को चरण के अंगूठे से स्पर्श किया अर्थात् जब बलि ने तीसरे पांव के लिये अपने मस्तक को ही आगे कर दिया, तब आपके चरण के अंगूठे

के सम्बन्धमात्र से बलि का पाताल में प्रवेश हो गया, 'ध्रुवमुपचित:' इत्यादि 'अर्थान्तरन्यास' पहले के समान समझो। अथवा यह खल असुर बलि उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होकर मूढ़ हो गया है अत:मोह की निवृत्ति के लिये इसका अपचय (ह्रास दारिद्र्यादि) करना चाहिए—यही भगवान् का अभिप्राय है, क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है कि 'जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ उसका धन हर लेता हूँ' ॥ १२ ॥



पूर्वत्र भगवद्विषये समुन्नतयोर्बलिरावणयोरत्यन्तमवनतिर्दर्शिता। अधुना तत्रावनतयोरिन्द्रवाणयोरत्यन्तमुन्नतिं दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

भगवान् के विषय में समुन्नत (अहङ्कारयुक्त) बलि और रावण की अत्यन्त अवनति (नीचेपन) को दिखा कर अब भगवान् के सामने अवनत (नमस्कारयुक्त) इन्द्र और बाण की अत्यन्त उन्नति को दिखाते हुए हरि और हर की गन्धर्वराज स्तुति करते हैं:—

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः ।
न तच्चित्रं तस्मिन्वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ॥१३॥

यदिति। सुत्राम्ण इन्द्रस्यर्द्धिं संपत्तिं परमोच्चैः सतीमप्यधश्चक्रे न्यक्कृतवान्। बाणो बलिसुतः। कीदृशः। परिजनविधेयत्रिभुवनः परिजनो दासस्तद्विधेयं वश्यं त्रिभुवनं यस्य, परिजनानामिव विधेयं वश्यं त्रिभुवनं यस्येति वा। स तथा उच्चैः सतीं यदधश्चक्रे तदन्यत्र चित्रमपि तस्मिन्बाणे न चित्रं नाश्चर्यम्। कीदृशे। त्वच्चरणयोर्वरिवसितरि नमस्कर्तरि इन्द्रसंपत्तेरप्यधःकरणं

त्वन्नमस्कारस्य न पर्याप्तफलं किन्त्वेकदेशमात्रमित्याह । न कस्या इति । त्वयि विषये शिरसो याऽवनतिर्नमस्क्रिया सा कस्यै उन्नत्यै न भवति । अपि तु सर्वामेवोन्नतिं मोक्षपर्यन्तां जनयितुं समर्था भवत्येवेत्यर्थः । अवनतिरप्युन्नति-हेतुरित्यतिशयोक्तिसंकीर्णोऽयमर्थान्तरन्यासः । सर्वोत्कृष्टत्वमचिन्त्यमहिमत्वं च भगवतः सूचयतीति भावः ।

सेवक के समान यह त्रिभुवन जिसके अधीन है ऐसे बाण (बलि के पुत्र) ने इन्द्र की परमोत्कृष्ट सम्पत्ति को भी तिरस्कृत कर दिया, यदि कोई और पुरुष यही कार्य्य करता तो उसका वह कार्य्य अवश्य आश्चर्य्य को उत्पन्न करने वाला होता परन्तु बाण का ऐसा कार्य्य आश्चर्य्यजनक नहीं है, क्योंकि वह आपके चरणों में नमस्कार करता है, इन्द्र की विभूति को भी नीचा दिखाना आपके नमस्कार का पर्य्याप्त (पूर्ण) फल नहीं है किन्तु उस फल का एक अंशमात्र है, अतः आपके आगे अवनति (झुकना) कौन सी उन्नति का कारण नहीं है ? अर्थात् मोक्षपर्य्यन्त सब उन्नतियों का कारण है । 'अवनति भी उन्नति का हेतु है'—यह अतिशयोक्ति से सङ्कीर्ण अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, भगवान् की सबसे उत्कृष्टता और अचिन्त्य महिमा को सूचन करता है ।

हरिपक्षे तु । हे परम वरद, सुत्राम्ण इन्द्रस्य बाणः शर एकोऽपि ऋद्धिं संपत्तिमुच्चैरधोऽपि सतीं त्रिभुवनव्यापिनीं चक्रे कृतवान् यत् तत्तस्मिन्सुत्राम्णि न चित्रमित्यादिपूर्ववत् । त्वत्प्रसादादेव सर्वानसुरानेकेनापि बाणेन जित्वा त्रिभुवनराज्यं प्राप्तवानिन्द्र इत्यर्थः । अत्र बाण इति शस्त्रमात्रोपलक्षणम् । कीदृशो बाणः । परिजनवद्विधेयमायत्तं त्रिभुवनं यस्मात्स तथा । शेषं पूर्ववत् ॥ १३ ॥

हरिपक्ष में, हे परम वरद! इन्द्र के एक ही बाण ने उसकी थोड़ी सी विभूति को जो त्रिभुवनव्यापिनी बना दिया यह उस इन्द्र के विषय में कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है—इत्यादि पूर्व-वत् समझिये । अर्थात् इन्द्र ने आप के अनुग्रह से ही सब असुरों

को एक ही बाण से जीतकर त्रिलोकी का राजत्व प्राप्त कर लिया। यहाँ बाणपद शस्त्रमात्र का उपलक्षण है, वह बाण कैसा है? कि जिस से यह त्रिभुवन, दास के समान आज्ञाकारी हो गया, शेष पूर्ववत् ॥१३॥

अधुना कालकूटप्रलयजलयोः संहारं दर्शयन्शंकरनारायणौ स्तौति—

अब कालकूट (विष) और प्रलयजल के संहार को दिखाते हुए श्रीशङ्कर और श्री नारायण की गन्धर्वराज स्तुति करते हैं:—

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयनविषं संहृतवतः ।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः ॥१४॥

अकाण्डेति । हे त्रिनयन, विषं समुद्रमथनोद्भूतं कालकूटाख्यं गरलं संहृतवतः पीतवतस्तव कण्ठे यः कल्माषः कालिमासीत्स कालिमा तव कण्ठे श्रियं शोभां न कुरुते किम् । अपि तु कुरुत एवेत्यर्थः । ननु भगवानतिशयित-विशेषदर्शी महानर्थहेतुकं विषं किमिति पीतवानित्यत आह । अकाण्ड इति । अकाण्डेऽसमये ब्रह्माण्डक्षयो महाप्रलयो विषोर्मिवेगात्संभावितस्तस्माच्चकिता भीता देवाऽसुरा इन्द्रबलिप्रभृतयस्तेषु कृपा दया तया विधेयस्य वश्यस्य । अन्यस्यैतत्पाने सामर्थ्यं नास्तीति विश्वत्राणाय विषं स्वयमेव पीतवानित्यर्थः । ननु विषविकारात्कल्माषः कथं कण्ठे शोभां तनोतीत्यत आह । अहो इत्यादि । अहो आश्चर्ये । भुवनभयभङ्गव्यसनिनः परमेश्वरस्य विकारोऽपि श्लाघ्यः प्रशंस-नीयः । भुवनस्य लोकस्य भयं त्रासस्तस्य भङ्गो निरन्वयनाशः स एव व्यसनं सर्वमन्यद्विहाय क्रियमाणत्वाद्व्यसनं तदस्यास्तीति तथा तस्य । तेन जगदुप-कृतिकृतं दूषणमपि भूषणमेवेत्यर्थः ।

हे त्रिनयन ! समुद्रमथन से उत्पन्न हुए कालकूट नामक विष को संहार (पान) करनेवाले आप के कण्ठ में जो कल्माष (कालापन) हो गया है वह कल्माष आपके कण्ठ में क्या शोभाजनक नहीं है ? किन्तु शोभाजनक ही है। (शङ्का) भगवान् तो अत्यन्त दूरदर्शी हैं उन्होंने महान् अनर्थ के करने वाले विष को क्यों पान किया ? (समाधान) जब समुद्र से उत्पन्न हुए विष के तरङ्गों के वेग को बढ़ता हुआ देखकर असमय में ही ब्रह्माण्ड के क्षय (महाप्रलय) की सम्भावना से इन्द्र बलि आदि देव और असुर भयभीत हुए, तब दयापरवश होकर श्री शङ्कर भगवान् ने यह देख कर कि इस विष के पान करने में और किसी का सामर्थ्य नहीं है, जगत की रक्षा के लिये अपने आप उस विष को पी लिया। (प्रश्न) विष-पान से वह कल्माष कण्ठ में शोभा को कैसे उत्पन्न कर रहा है ? क्योंकि वह तो दोषरूप है। (उत्तर) अहो ! भुवनभयभङ्गव्यसनी (जगत् के भय को मूलसहित काटने में व्यसनवाले) भगवान् भूतनाथ (शिवजी) का विकार (दोष) भी श्लाघ्य (प्रशंसायोग्य) है। अन्य सब कार्य्यों को छोड़कर पुरुष जिसे करता हो वह 'व्यसन' कहलाता है, कष्ट से संसार का उद्धार करना भगवान् का व्यसन है, अतः जगत के उपकार से उत्पन्न हुआ दूषण भी भूषण ही है।

हरिपक्षे तु। हे त्रिनयन त्रयाणां लोकानां नयनवत्सर्वावभासक, 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्' इति श्रुतेः। दैनंदिनप्रलयजलपूरवेगात्संभावितअकाण्डेऽकाले ब्रह्माण्डक्षयो महाप्रलयः। दैनंदिनप्रलयजलपूरवेगात्संभावित-तस्माच्चकिता ये देवासुराः स्वायंभुवमनुप्रभृतयस्तद्विषयककृपावशीकृतस्य तव विषं जलं 'विषं क्ष्वेडं विषं जलम्' इत्यादिकोशात्। तच्च प्रलयकालीनं यज्ञवाराहरूपेणावगाह्य पङ्कीकृत्य संहृतवतः शोषितवतः पङ्कव्यामिश्रणेन यः कल्माषो मलिनिमासीत्स कल्माषः स्तोतृभिर्वर्ण्यमानः अर्थात्स्तोतृणां कण्ठे

श्रियं शोभां न कुरुते इति न। अपितु कुरुत एवेत्यर्थः। अर्थान्तरन्यासः पूर्ववत् ॥ १४ ॥

हरिपक्ष में—हे त्रिनयन! (तीनों लोकों के नेत्र! भगवान् नेत्र के समान तीनों लोकों के प्रकाशक हैं, श्रुति में कहा है कि "अन्तरिक्ष में नेत्र के समान विष्णु के उस व्यापक परमपद (सूर्य्य) को विद्वान् लोग सदा देखते हैं।") दिन प्रतिदिन प्रलयजल के प्रवाह के वेग को देख कर असमय में जगत् के महाप्रलय की सम्भावना से डरे हुए स्वायम्भुव मनु आदि देव और असुरों को देखकर उन पर उत्पन्न हुई दया के अधीन होकर आप ने उस विष (जल) को यज्ञवाराह का रूप धारण करके अवगाहन (मथते मथते) करते करते पङ्क (कीचड़) करके सुखा दिया, आपके शरीर में लगे हुए उस पङ्क की कालिमा की जो पुरुष स्तुति करते हैं, क्या उससे उनके कण्ठ की शोभा नहीं होती? अर्थात् होती ही है, पूर्व के समान अर्थान्तरन्यास है ॥ १४ ॥

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः ।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः ॥ १५ ॥

असिद्धार्था इति। हे ईश, यस्य स्मरस्य विशिखा बाणाः सदेवासुरनरे जगति देवासुरनरादिसहिते त्रैलोक्ये जयिन उत्कृष्टाः क्वचिदप्यसिद्धार्था अकृतकार्या न निवर्तन्ते। अपि तु सिद्धार्था एव नित्यं जयिन एव भवन्ति। जयिन इति स्मरस्य वा विशेषणम्। नित्यं जयशीलस्येत्यर्थः। स एतादृशपौरुषवानपि स्मरः यथान्ये देवा मम जय्यास्तथाऽयमपीतीतरदेवतुल्यं त्वां

पश्यन् स्मर्तव्यात्माभूत् स्मर्तव्यः स्मरणीय आत्मा शरीरं यस्य स तथा। नष्ट इत्यर्थः। पश्यन्निति हेतौ शतृप्रत्ययः। लक्षणहेतौ च शतुः स्मरणात्। 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे' इतिवत्। तेनेतरदेवसाधारणत्वेन त्वद्दर्शनमेवाव्यवधानेन विनाशहेतुः का वार्ता परिभवादेरिति भावः। तत्र कैमुतिकन्यायमाह नहीत्यादि। हि यस्माद्वशिषु जितेन्द्रियेष्वन्येष्वपि परिभवस्तिरस्कारः पथ्यो हितो न भवति। स्वनाशायैव संपद्यत इति यावत्। किं पुनः परमवशिनां वरे परमेश्वरे त्वयीत्यर्थः।

हे ईश! जिस कामदेव के बाण, देव असुर नर सहित सम्पूर्ण जगत् में जय को प्राप्त करते हैं, और वे चलाये गये कहीं भी असिद्धार्थ (निष्फल) नहीं होते किन्तु सर्वदा अपना कार्य्य करते हैं। अथवा 'जयिनः' यह कामदेव का विशेषण है, सदा जीतने वाले कामदेव के बाण इत्यादि अन्वय समझना चाहिए। इस प्रकार के पौरुष वाला कामदेव "जैसे और देवताओं को मैं जीत लेता हूँ ऐसे ही इस (शिव) को भी जीत लूंगा" इस प्रकार अन्य देवों के समान महादेवजी को देखते ही स्मर्तव्यात्मा (स्मरण योग्य है शरीर जिसका) हो गया अर्थात् नष्ट हो गया। 'पश्यन्' यह हेतु में शतृप्रत्यय है, क्योंकि पाणिनि मुनि ने लक्षण और हेतु अर्थ में शतृप्रत्यय का विधान किया है, जैसे 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे' इस श्रुति में हेतु में शतृ है। इसलिये आपको इतर देवताओं के समान देखना ही तत्क्षण विनाश का हेतु है, आपके तिरस्कार आदि की तो वार्त्ता ही क्या है! यह भाव है। इसी विषय में 'कैमुतिक' न्याय से कहते हैं कि जिस हेतु से अन्यान्य जितेन्द्रिय पुरुषों का तिरस्कार भी पथ्य (हित) नहीं होता है, अर्थात् अपने नाश का ही हेतु होता है, परम जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ आप परमेश्वर के तिरस्कार का तो कहना ही क्या है!

हरिपक्षे तु। हे इतरसुरसर्वविलक्षण देव, पूर्वं स्मर्तव्यात्मा स्मृतोऽपि

स्मरः कामस्त्वां पश्यन्नभूज्जातः । त्वत्सकाशाज्जात इत्यर्थः । पितैव खलु पुत्रं जातमात्रमवलोकयति, अतः पुत्रोऽपि तमेवावलोकयतीति पश्यन्नभूदित्यनेन जन्यजनकभावो लभ्यते । कथं जातः साधारणं तव तुल्यरूपं यथा स्यात्तथा । 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः । तर्हि किं सर्वांशेन भगवत्तुल्यः, तथा च 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः', 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च विद्यते' इत्यादिश्रुतिविरोध इत्याशङ्क्य वैलक्षण्यमाह । नहीत्यादि । वशिषु जितेन्द्रियेषु हि यत्स्मात्स्मरो न पथ्यो न हितः । तत्र हेतुः परिभवः परिभवत्यनर्थे योजयतीति परिभवः कामः । स खलु सर्वेषां संसारबन्धहेतुः, परमेश्वरस्तु सर्वेषां संसारबन्धस्यात्यन्तोच्छेदहेतुरिति महद्वैलक्षण्यमित्यर्थः । असिद्धार्था इत्यादि पूर्ववत् ॥ १५ ॥

हरि पक्ष में—हे अन्य साधारण सम्पूर्ण देवों से विलक्षण देव ! जो कामदेव पहले स्मृति का विषय था, वह आपको देखता देखता ही आपसे उत्पन्न हुआ, पिता ही उत्पन्न होते हुए पुत्र को पहले देखता है अतः पुत्र भी प्रथम पिता को ही देखता है, इस लिये 'पश्यन्नभूत' देखते देखते उत्पन्न हुआ—इस वचन से भगवान् विष्णु और कामदेव में कार्य्यकारणभाव प्रतीत होता है । वह कामदेव कैसा उत्पन्न हुआ ? कि जो आपके ही तुल्य था, "आत्मा वै पुत्रनामासि" इस श्रुति के अनुसार पिता ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है । (शङ्का) तो क्या कामदेव सर्वांश में ईश्वर के तुल्य है ? यदि ऐसा कहो तो "जिस परमात्मा का महायश इस जगत् में प्रसिद्ध है उसकी प्रतिमा (तुलना) नहीं है, उस परमात्मा के समान अथवा बढ़ कर कोई पदार्थ दिखाई नहीं देता" इत्यादि अर्थवाली श्रुतियों से विरोध होगा । (समाधान) नहीं, सर्वांश में तुल्य नहीं है किन्तु विलक्षणता है, क्योंकि परिभव (परिभव करता है अर्थात् अनर्थ में लगा देता है—इस व्युत्पत्ति से परिभव पद का अर्थ कामदेव है)अर्थात् कामदेव सब प्राणियों के संसारबन्धन का हेतु

है, और परमेश्वर तो सब के संसारबन्धन के अत्यन्त विनाश के हेतु हैं, इस प्रकार बड़ी भारी विलक्षणता है। असिद्धार्था इत्यादि का अर्थ पूर्ववत् है ॥ १५ ॥

अथ जगद्रक्षणार्थे नर्तनावतरणे दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

अब जगत् की रक्षा के लिये नृत्य और अवतार का वर्णन करते हुए गन्धर्वराज श्री हरि और हर की स्तुति करते हैं:—

मही पादाघाताद्व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम् ।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ॥१६॥

महीति । हे ईश, जगद्रक्षायै त्वं नटसि नृत्यसि । संध्यायां जगन्ति जिघांसन्तं वरलब्धनरकालबलं महाराक्षसं निजताण्डवेन मोहयसीत्यर्थः । त्वं तु जगतां रक्षायै नृत्यसि, जगन्ति तु त्वत्ताण्डवेन संशयितानि भवन्तीत्याह । महीत्यादि । तव चरणाघातेन सहसा संशयपदं संकटं मही व्रजति । तथा विष्णोः पदमन्तरिक्षं भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणं भुजा एव परिघाः अतिसुवृत्तपीवरदृढदीर्घत्वात्तैर्भ्राम्यद्भिर्भुजरूपपरिघै रुग्णाः पीडिताः ग्रहगणा नक्षत्रसमूहा यत्र तत्तथा संशयपदं व्रजतीत्यर्थः । यथा द्यौः स्वर्लोकः अनिभृता असंवृता या जटास्ताभिस्ताडितं तटं प्रान्तदेशो यस्याः सा तथा मुहुर्दौस्थ्यं दुःस्थत्वं याति । एवं च क्रमेण त्रयाणां लोकानामपि संशयो दर्शितः । नन्वसौ सर्वज्ञोऽप्यपायमपर्यालोचयन्नेव किमित्येवंविधताण्डवे प्रवृत्त इत्यत आह । नन्विति । ननु अहो विभुता परममहत्ता । प्रभुतेति यावत् । वामैव प्रतिकूलैव । अनुकूलमाचरत्यपि किंचित्प्रतिकूलमवश्यमाचरतीत्येवशब्दार्थः । दृश्यते हि

स्वल्पकेऽपि राजनि स्वदेशरक्षणाय सेनया सह संचरति स्वदेशोपद्रवः, किमुत तादृशे महेश्वर इत्यर्थः ।

हे ईश! आप जगत् की रक्षा के लिये नृत्य करते हैं! (किसी महाराक्षस ने महादेवजी से ऐसा वर प्राप्त किया था कि सन्ध्याकाल में मेरा बल अत्यन्त बढ़ जाया करे, वर प्राप्त करके वह सन्ध्याकाल में जगत् का विध्वंस करने के लिये सदा चेष्टा करता रहता है, उस समय महादेवजी नृत्य दिखा कर उसको मोहन करते रहते हैं जिस से वह जगत् के नष्ट करने के व्यापार को भूल जाता है।) यद्यपि आप जगत् की रक्षा के लिये नृत्य करते हैं तथापि आपके ताण्डव से जगत् संशय में पड़ जाता है—इसी अर्थ का निरूपण करते हैं। आपके चरणों की धमक से पृथिवी एकाएक संशयपद (संकट) को प्राप्त हो जाती है, आपकी घूमती हुई भुजारूप मुद्गरों की चोटों से अन्तरिक्ष के नक्षत्रगण पीड़ित होते रहते हैं, तथा आपकी खुली हुई जटाओं के ताड़न से स्वर्गलोक के तटप्रदेश बार बार दुर्दशा को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार तीनों लोकों के विषय में प्राणिमात्र को संशय होने लगता है कि ये बचेंगे या नहीं ? (शङ्का) श्रीमहादेवजी सर्वज्ञ होकर भी हानि का विचार न करके उद्दण्ड ताण्डव में इस प्रकार क्यों प्रवृत्त होते हैं ? (समाधान) अहो! प्रभुता 'वामैव' (उलटी) ही है, प्रभुता का यह स्वभाव है कि अनुकूल आचरण करती हुई भी कुछ न कुछ प्रतिकूल (उलटा) आचरण अवश्य ही कर जाती है। लोक में ऐसा देखते हैं कि छोटे से राजा से भी अपने देश की रक्षा के लिये सेना के साथ संचार करते हुए थोड़ा बहुत उपद्रव हो ही जाता है, फिर महेश्वर की तो बात ही क्या है।

हरिपक्षे तु। हे ईश, त्वं जगद्रक्षायै नटसि नटवदाचरसि। नटशब्दादाचारार्थे क्विपि प्रत्ययलोपे नटसीति रूपम्। मत्स्यादिभूमिकां भजसीत्यर्थः। कस्यामवस्थायां जगद्रक्षणार्थंमवतरणमित्युच्यते। महीपादित्यादि। मही

पातीति महीपो राजा तस्मादाघातात्सा मही सह समकालमेव संशयपदं व्रजति । आ समन्ताद्घातो नाशोऽस्मादित्याघातो हिंस्रः । तथा च यदैव हिंस्रस्य राज्यं तदैव संकटं व्रजतीत्यर्थः । तथा च विष्णोः पदमधिष्ठानं यत्र भगवान्विष्णुः स्वविभूतिभिः सह पूज्यते तद्विष्णोः पदं देवयजनाख्यं यज्ञशालादि । तत्कीदृशम् । भ्राम्यद्भिर्भुजस्थपरिघैर्भुजरूपपरिघैर्वा रुग्णो भग्नो ग्रहगणः सवित्रादिरूपः सोमपात्रसमूहो यत्र तत्तथा यागादिशुभकर्माणि यदा ध्वस्यन्ते तदेत्यर्थः । तथा द्यौर्दौस्थ्यं याति । अनिभृतजटाः पापण्डव्रतचिन्हभूतास्ताभिराताडितं अभावमिव गमितं तटं तुङ्गं पदं सत्यलोकाख्यं यस्याः सा तथा । पाखण्डिभिर्हि वैकुण्ठलोकोऽपि नाङ्गीक्रियते किं पुनरिन्द्रादिलोक इत्यर्थः । यदा चैवं तदा त्वं नटवदाचरसीत्यर्थः । तथाच भगवद्वचनं गीतासु—'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।' इति । श्रीभागवते च—'यर्ह्यालयेष्वपि सतां न कथा हरेः स्युः पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः । स्वाहास्वधावषडिति स्म गिरो न यत्र शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान्युगान्ते ।' इत्यादि । नन्विच्छामात्रेणैव जगन्ति रक्षितुं क्षमोऽपि किं मत्स्यादिरूपैः क्लिश्यतीत्यत आह । नन्वित्यादि । ननु निश्चितं विभुता विभववत्ता । संपन्नतेति यावत् । वामैव वक्रैव सत्यप्यृजौ प्रकारे वक्रेणैव प्रकारेण स्वसंपत्तिं सफलयितुं संपन्नः कार्यं करोतीत्यर्थः । तेनाष्टविधमैश्वर्यमौत्पत्तिकं दर्शयन्भक्तानामभिध्यानाय तानि तानि श्रवणमनोहराणि चरितानि तेन तेनावतारेण धत्ते भगवानिति भावः ॥ १६ ॥

हरिपक्ष में—हे ईश ! आप जगत् की रक्षा के लिये नट के समान आचरण करते रहते हैं, (नट शब्द से आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय करके प्रत्ययलोपानन्तर 'नटसि' रूप सिद्ध होता है ।) अर्थात् मत्स्य आदि की भूमिका (रूप) को धारण करते हैं । किस अवस्था में जगत् की रक्षार्थ आप अवतार लेते हैं ? इसके समाधान में कहते हैं, महीपादाघातादित्यादि । 'महीपात् आघातात्' ऐसा पदच्छेद है, सर्व प्रकार जिस से देश का नाश हो उसे

आघात अर्थात् 'हिंसा करने वाला' कहते हैं, तथाच जिस समय हिंस्र राजा का राज्य होता है उस समय पृथिवी एकाएक संकट को प्राप्त हो जाती है, और विष्णु का पद (अधिष्ठान) जिस में भगवान् विष्णु की विभूतियों के सहित पूजा होती है वह देवयजन नाम वाली यज्ञशाला आदि 'विष्णुपद' कहलाता है, तथाच जिस समय दुष्ट पुरुषों के भुजरूप मुद्गरों से यज्ञ के सविता आदि सोमरस के ग्रह (पात्र) तोड़ दिये जाते हैं अर्थात् याग आदि शुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं. और जब पाखण्डव्रतधारियों के खुली हुई जटा आदि चिन्हों से सत्यादिलोक प्राय: अभाव को प्राप्त से हो जाते हैं, अर्थात् पाखण्डी लोग वैकुण्ठ लोक को भी अङ्गीकार नहीं करते, इन्द्रादि लोकों के तो मानने की कथा ही क्या है। जब ऐसी अवस्था प्राप्त होती है तब आप अवतार लेते हैं, तथाच भगवान् का गीता में वचन है कि— "हे भारत! जब जब धर्म की ग्लानि (हानि) और अधर्म का अभ्युत्थान (वृद्धि) होता है तब तब मैं अपने आपको मत्स्य आदि रूप से उत्पन्न करता हूँ।" और श्री भागवत में भी कहा है कि "जब साधु सज्जन पुरुषों के घरों में भी हरि की कथा न रहेगी, ब्राह्मण लोग पाखण्डी हो जायँगे, चाण्डाल लोग राजा होंगे, तथा जब स्वाहा स्वधा वषट् की ध्वनि लुप्त हो जायगी तब कलियुग के अन्त में भगवान् अवतार लेकर सब का शासन करेंगे।" (शङ्का) जब संकल्पमात्र से ही भगवान् जगत् की रक्षा करने में समर्थ हैं तब मत्स्य आदि रूपों को धारण करने का परिश्रम क्यों करते हैं? (समाधान) यह बात निश्चित है कि प्रभुता वामा (टेढ़ी) ही है, सरल उपाय के होते हुए भी सम्पन्न पुरुष अपनी सम्पत्ति की सफलता के लिये टेढ़े उपाय से ही कार्य करता है, अतः भगवान् आठ प्रकार के स्वाभाविक ऐश्वर्य को दिखाते हुए तथा भक्तों के

ध्यान करने के लिये कानों को मधुर लगने वाले तत्तत् चरित्रों को अवतार लेकर करते हैं ॥ १६ ॥

अथ गङ्गाया उद्धरणधारणे दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

अब श्री गङ्गाजी के उद्धार और धारण को दिखाते हुए श्री हरि और हर की स्तुति श्री पुष्पदन्त करते हैं:—

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते ।
जगद्द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ॥१७॥

वियदिति । हे ईश, अनेनैव लिङ्गेन तव दिव्यं दिवि भवं सर्वदेवनियन्तृ वपुः शरीरं धृतमहिम सर्वेभ्यो महत्तरं उन्नेयमूहनीयम् । तव वपुषः सर्वमहत्तरत्वमेतावतापि निश्चेतुं शक्यं किमिति प्रमाणान्तरमत्रापेक्षितव्यमिति एवकारार्थः । इतिशब्दः प्रकारार्थे एवंप्रकारेण लिङ्गेनेत्यर्थः । तमेव प्रकारं दर्शयति । वियदित्यादि । वियदाकाशं व्याप्नोत्याच्छादयतीति तथा तारागणेन नक्षत्रवृन्देन स्वान्तःपातिना गुणिता शुभत्वादिगुणसजातीयत्वाद्वर्धिता फेनोद्गमरुचिर्यस्य स तथा एतादृशो वारां प्रवाहः स तव शिरसि पृषतलघुदृष्टः पृषताद्बिन्दोरपि लघुरल्पतरः पृषतलघुः स इव दृष्ट आलोकितः । तेन तु वारां प्रवाहेण जलधिवलयं जगद्द्वीपाकारं कृतं जलधीनां वृन्दं जगद्भूलोको द्वीपाकारं जम्बूद्वीपादिसप्तकरूपं यस्मिंस्तत्तथा विहितम् । 'अगस्त्येन हि सप्तसु समुद्रेषु पीतेषु पुनर्भगीरथानीतगङ्गाप्रवाहेणैव तेषां पूरणं जातम्' इति पुराणप्रसिद्धम् । तथाच यो जलराशिस्तव शिरसि बिन्दोरप्यल्पो दृष्टः स एवात्र कियान्मन्दाकिनीनाम्ना वियद्व्याप्यास्ते, कियान्भागीरथीति गङ्गेति च

प्रसिद्धो भूलोके सप्तसमुद्रानापूर्यास्ते, कियांस्तु भोगवतीतिसंज्ञया पातालमभिव्याप्यास्ते इत्यनेन तव दिव्यवपुषो महत्त्वमनुमीयत इत्यर्थः ।

हे ईश ! इसी लिङ्ग (ज्ञापक) से "आपका दिव्य (सब देवताओं को नियम में रखने वाला) शरीर सब से अत्यन्त महान् है" ऐसा अनुमान किया जा सकता है । अर्थात् आपके शरीर का बड़प्पन इतने से ही निश्चय किया जा सकता है इस विषय में अन्य प्रमाण की क्या अपेक्षा है ? (यह 'एव' शब्द का अभिप्राय है, इतिशब्द का 'प्रकार' अर्थ है, इस प्रकार के लिङ्ग से—यह अन्वय है ।) उसी लिङ्ग को दिखाते हैं—वियद्व्यापी (आकाश को आच्छादन करने वाला) तथा प्रवाह के भीतर रहने वाले तारागणों से जिसके फेन की दीप्ति (चमक) वृद्धि को प्राप्त हो रही है ऐसा जो आकाशगङ्गा के जलों का प्रवाह है, वह प्रवाह आपके मस्तक में बिन्दु से भी बहुत छोटा सा दिखाई पड़ता है, और उस जलप्रवाह ने तो समुद्रसमुदायरूप पृथिवी को जम्बूद्वीप आदि सात द्वीप रूप में बना दिया है । पुराण में ऐसा प्रसिद्ध है कि एक बार अगस्त्य मुनि ने सातों समुद्रों को पान कर लिया था, उसके अनन्तर भगीरथ राजा से लाये हुए श्री गङ्गाजी के प्रवाह से उन समुद्रों की पूर्त्ति हुई । तथा च जो जलसमूह आपके मस्तक में बिन्दु से भी छोटा दिखाई देता है वही यहां कुछ तो 'मन्दाकिनी' नाम से आकाश में व्याप्त हो रहा है, कुछ 'भागीरथी' और गङ्गा नाम से भूमिलोक में सातों समुद्रों को भर कर विद्यमान हो रहा है, तथा कुछ 'भोगवती' नाम से पाताल में व्याप्त हो रहा है, इसी से आपके दिव्य शरीर का महत्त्व अनुमान किया जा सकता है ।

हरिपक्षे तु । तारागणैर्गुणिताः फेना यस्याः सा तारागणगुणितफेना गङ्गा तस्या उद्गमे उद्भवे रुचिः शोभा यस्य स तथा शिरसि सर्वलोकानां शिरःस्थानीये ब्रह्मलोके बलिछलनोत्क्षिप्तचरणाङ्गुष्ठनिर्भिन्नब्रह्माण्डविवरादा-

गतौ गङ्गोत्पत्तिहेतुर्वियद्व्यापको यो वारां प्रवाहः स ते त्वया पृषतलघुदृष्टः बिन्दो-रपि लघुदृष्टः बिन्दोरपि लघु यथा स्यात्तथोपलब्ध इत्यर्थः । अनेनैव लिङ्गेन च तव दिव्यं वपुः बलिछलनार्थं दिव्याकाशे आविर्भावितं त्रैविक्रमं रूपं धनम-हिमोन्नेयम् । शेषं पूर्ववत् ॥१७॥

हरिपक्ष में—बलि को छलने के समय भगवान् ने आकाश में जो अपना महान् रूप धारण किया था उसकी महत्ता इतने से ही अनुमान की जा सकती है कि बलि को छलने के लिये भगवान् ने जो पांव ऊपर को उठाया तो चरण के अंगूठे से ब्रह्माण्ड के ऊपर के पुट (भाग) में छिद्र हो गया और उस छिद्र से ब्रह्माण्ड के बाहर का जलप्रवाह ब्रह्माण्ड के भीतर ब्रह्मलोक में गिरा वही गङ्गा नाम से कहलाया, तारागणों से उसका फेन सहस्रगुण अधिक प्रतीत होने लगा, उस गङ्गा के उत्पत्तिसमय में भगवान् की मूर्त्ती उसके प्रवाह से अधिक शोभा को प्राप्त हो रही थी, और उस गङ्गाप्रवाह को भगवान् ने बिन्दु से भी अत्यन्त लघु जाना, जिस भगवान् की दृष्टि में अतिशयमहान् गङ्गा का प्रवाह बिन्दु से भी छोटा भासता है, उस भगवान् का बलि को छलने के लिये धारण किया हुआ वह त्रैविक्रम रूप कितना बड़ा होगा, यह स्वयं अनुमान किया जा सकता है । शेष अर्थ पूर्ववत् है॥ १७ ॥

अथ लङ्कात्रिपुरदाहौ दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

अब लङ्का और त्रिपुर का दहन दिखाते हुए श्री हरि और हर की स्तुति गन्धर्वराज करते हैं:—

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति ।

दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ॥१८॥

रथ इति । हे ईश त्रिपुरतृणं दिधक्षोस्तव कोऽयमाडम्बरविधिःत्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरं तदेव तृणं अनायासनाश्यत्वात् । तद्दग्धुमिच्छोस्तव केयं महत्प्रयोजनमुद्दिश्येव संभ्रमरचना । नहि लौकिका अपि नखच्छेद्ये कुठारं परिगृह्णन्ति, अतस्तवात्यल्पे प्रयोजने न महान्प्रयास उचित इत्यर्थः । आडम्बरविधिमेव दर्शयति । रथ इत्यादि क्षोणी पृथ्वी रथरूपेण परिणता, शतधृतिर्ब्रह्मा यन्ता सारथिः, अगेन्द्रः पर्वतश्रेष्ठो मेरुः धनुः कोदण्डं, सोमसूर्यौ द्वे चक्रे, रथचरणं चक्रं तद्युक्तपाणिर्विष्णुः शरो बाणः, चतुर्थवाक्ये श्रुतोऽप्यथोशब्दः सर्वत्र वाक्यभेदाय योजनीयः । इतिशब्दः प्रकारार्थः । त्रिभुवनमपीच्छामात्रेण संहरतस्तवैवंप्रकारेण सामग्रीसंपादनमाडम्बरमात्रमित्यर्थः । एवमाक्षिप्य परिहारमाह । विधेयैरित्यादि । खलु निश्चितं प्रभोरीश्वरस्य धियो बुद्धयः संकल्पविशेषाः परतन्त्राः पराधीना न भवन्ति, अपि तु स्वतन्त्रा एव । ताः कीदृश्यः विधेयैः स्वाधीनैः पदार्थैः क्रीडन्त्यः खेलन्त्यः । नहि क्रीडायां प्रयोजनाद्यपेक्षास्ति । तस्माद्विचित्राणि वस्तूनि स्वाधीनतया क्रीडासाधनीकृत्य क्रीडतस्तव सर्वाणि कार्याणि स्वेच्छामात्रेण कर्तुं समस्तलौकिकवैदिकनियमानधीनबुद्धेर्न किंचिदप्यनुचितमित्यर्थः ।

हे ईश ! त्रिपुररूप तृण को दग्ध करने की इच्छा से आपका यह कैसा आडम्बरविधि है ? त्रिपुररूप तृण तो अनायास ही नष्ट हो सकता है, उसे जलाने की इच्छा से जैसे कोई किसी महान् प्रयोजन के उद्देश से बड़ी भारी साधनसामग्री सम्पादन करता हो ऐसे आप की यह इतनी भारी रचना क्यों है ? क्योंकि लौकिक पुरुष भी नख से कटने योग्य पदार्थ के लिये कुल्हाड़े को काम में नहीं लाते हैं, अतः आपका अल्प प्रयोजन के लिये महान् प्रयास उचित नहीं है—यह भाव है। उसी आडम्बरविधि को दिखाते हैं,

पृथिवी को रथ बनाया है, ब्रह्मा को सारथी, पर्वतराज मेरु को धनुष, चन्द्र सूर्य्य को दोनों चक्र, और रथचरण (चक्र) है हाथ में जिनके ऐसे विष्णु भगवान् को बाण, इस प्रकार की सामग्री का सम्पादन करना आडम्बरमात्र है, क्योंकि आप सङ्कल्पमात्र से त्रिभुवन का भी संहार कर सकते हैं। (आडम्बर शब्द का अर्थ नक्कारे आदि का ध्वनि या हाथी की गरजना है, जो कार्य्य बड़ी तड़क भड़क और बड़ी भारी तय्यारी से किया जाय उसे 'आडम्बरविधि' कहते हैं) इस प्रकार आक्षेप करके परिहार करते हैं, 'विधेयैरित्यादि' —यह निश्चय है कि ईश्वर की स्वाधीन पदार्थों के साथ क्रीड़ा करती हुई बुद्धियां (सङ्कल्पविशेष) पराधीन नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र हैं क्योंकि क्रीड़ा में किसी प्रयोजन आदि की अपेक्षा नहीं होती है, अतः विचित्र वस्तुओं को स्वाधीन करके तथा उन्हें क्रीड़ा का साधन बना कर क्रीड़ा करते हुए आपके लिये कुछ भी अनुचित नहीं है। क्योंकि आप सब कार्य्यों को अपनी इच्छामात्र से करने में समर्थ हैं, और आपकी बुद्धि लौकिक या वैदिक नियमों के अधीन नहीं है।

हरिपक्षे तु। त्रीणि त्रिकूटगिरिशिखराणि पुराख्याश्रयो यस्येति त्रिपुर लङ्कापुरं तदेव तृणं तद्दग्धुमिच्छोस्तव कोऽयं श्रीरामरूपेण सुग्रीवसख्यसमुद्रबन्धनादिश्चाडम्बरविधिः। रथः क्षोणीत्यादिरूपकं। क्षोणीव रथः, शतधृतिरिव यन्ता, अगेन्द्र इव धनुः, चन्द्रार्काविव रथचक्रे, रथचरणपाणिरिव शरः, क्षोण्यादिसदृशरथाद्युपादानमेतादृशात्यल्पस्वत्तुल्यवीर्यो बाण इत्यर्थः। प्रयोजनायापेक्षितुमुचितं न भवतीत्यर्थः। शेषं पूर्ववत् ॥१८॥

हरिपक्ष में—त्रिकूट पर्वत के तीन शिखर जिसके पुर (आश्रय) हैं वह त्रिपुर लङ्कापुर कहलाता है, लङ्कापुररूप तृण को दग्ध करने की इच्छा से आपका श्रीरामरूप धारण करके सुग्रीव से मैत्री तथा समुद्रबन्धन आदि आडम्बरविधि क्यों है ? रथः क्षोणी

इत्यादि रूपक है । अर्थात् पृथिवी समान रथ, ब्रह्मा सा सारथि, मेरुसमान धनुः, चन्द्र और सूर्य्य के समान रथ के पहिये, विष्णु के समान बाण अर्थात् अपने तुल्य वीर्य्य वाला बाण है । पृथिवी आदि के समान रथ आदि का संग्रह लङ्कापुररूप तृण के दहनरूप अल्पप्रयोजन के लिये उचित नहीं है। शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥१८॥

अथेन्द्रोपेन्द्रयोर्भक्तिं तत्फलं च दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

इन्द्र (विष्णु) और उपेन्द्र की भक्ति को तथा उसके फल को दिखाते हुए श्री हरि और हर की स्तुति पुष्पदन्त महाराज करते हैं:—

हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ॥१९॥

हरिरिति । हे त्रिपुरहर, हरिर्विष्णुस्तव पदयोः साहस्रं सहस्रसंख्यापरिमाणं कमलानां पद्मानां बलिमुपहारं । सहस्रकमलात्मकं बलिमित्यर्थः । आधाय समर्प्य तस्मिन्कमलसहस्रबलावेकोने सति एकेन कमलेन भक्तिपरीक्षार्थं त्वया गोपितेन हीने सति नियमभङ्गो माभूदिति तत्पूरणार्थं तदा कमलान्तरमलभमानो निजमात्मीयं नेत्रकमलमेवोदाहरदुत्पाटितवान् । यदैवं स्वनेत्रोत्पाटनरूपं भजनं, असौ भक्त्युद्रेकः भक्तेः सेवाया अत्यन्तप्रकर्षः चक्रवपुषा सुदर्शनरूपेण परिणतिं गतः त्रयाणां जगतां रक्षायै जागर्ति । परिपालनार्थं सावधान एव वर्तते इत्यर्थः । एवमाख्यायिका च पुराणप्रसिद्धा । तथा चैवंविधाचिन्त्यमाहात्म्यस्त्वमसीति भावः ।

हे त्रिपुरहर ! श्री विष्णु ने आपके चरणों में एक सहस्र कमलों को भेंट करते समय जब एक कमल न्यून देखा (जिसे आपने उनकी भक्ति की परीक्षा के लिये छिपा दिया था) तब नियमभङ्ग न हो जाय इस बुद्धि से सहस्रवें कमल की पूर्त्ति के लिये अन्य कमल को न पाकर अपने नेत्ररूप कमल को ही उखाड़ कर आपके चरणों में भेंट कर दिया इस प्रकार श्री विष्णु ने जब अपने नयन का निकालनारूप अत्युत्कृष्ट भक्ति दिखाई तब उसी भक्ति का फल यह सुदर्शनचक्र हुआ, जो जगत् की रक्षा के लिये सर्वदा सावधान रहता है, ऐसी ही कथा पुराण में प्रसिद्ध है। तथा च आपका माहात्म्य इस प्रकार अचिन्त्य है—यह अभिप्राय है।

हरिपक्षे तु। त्रिपुरहरेति प्राग्व्याख्यातम्। हरिरिन्द्रस्तव पदयोः साहस्रं कमलबलिमाधाय। कीदृशं नेत्रकमलं नेत्राण्येव कमलानि यस्मिन्स तथा नेत्रसहस्रात्मकं कमलसहस्रबलिमित्यर्थः। युगपन्नेत्रसहस्रव्यापारेण त्वच्चरण-योर्दर्शनरूपमाराधनं कृत्वेत्यर्थः। आराधनप्रयोजनमाह। निजमात्मानमेकः सहायान्तरशून्यः। अनेन तस्मिन्नेतल्लोकविलक्षणे स्वर्गलोके उदहरदुद्धृतवान्। स्वर्लोकाधिपतिमात्मानं कृतवानित्यर्थः। निजमुद्धर्तुं युगपन्नेत्रसहस्रेण त्वच्च-रणावलोकने यत्प्रवणत्वं असौ भक्त्युद्रेकः चक्रवपुषा चक्रं सैन्यं ऐरावतोच्चैः-श्रवःप्रभृति तद्रूपेण परिख्यातिं गतः परिणतः समुद्रमथनेन लक्ष्मीपीयूषादि प्रादुर्भावात्। त्रयाणां लोकानां रक्षायै जागर्तीत्यादिपूर्ववत् ॥१६॥

हरिपक्ष में— हे त्रिपुरहर! (हरिपक्ष में 'त्रिपुरहर' पद का अर्थ पहले व्याख्यान हो चुका है) हरि (इन्द्र) ने आपके चरणों में सहस्र नेत्ररूप कमलों की भेंट की, अर्थात् आपको प्रणाम करते समय इन्द्र जब आपके चरणों पर झुका तब उसके सहस्र नेत्रों ने आपके चरणों के दर्शन किये—यही मानो सहस्रनेत्ररूप कमलों की भेंट हुई। इस चरणदर्शनरूप आराधना का यह फल हुआ कि वह स्वर्ग का अधिपति हुआ, और उसी भक्ति का उद्रेक

(अधिकता) देवों के सैन्य, ऐरावत, उच्चैःश्रवा आदि तत्तद्रूप में फलित हुआ, क्योंकि समुद्रमथन से ही लक्ष्मी तथा अमृत आदि की उत्पत्ति हुई थी, और यही तीनों लोकों की रक्षा के लिये सदा सावधान रहते हैं—शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ १९ ॥

एवं पूर्वश्लोकेषु परमेश्वराराधनादेव सर्वपुरुषार्थप्राप्तिरन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्ता । तत्र केचिन्मीमांसकंमन्याः परमेश्वरनिरपेक्षात्कर्मजनितादपूर्वादेव शुभाशुभप्राप्तिरित्याहुस्तान्निराकुर्वन्हरिहरौ स्तौति—

इस प्रकार पूर्व श्लोकों में परमेश्वर के आराधन से ही सर्व पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है—यह बात अन्वय-व्यतिरेक से कथन की गई, इस विषय में कोई मीमांसकमानी लोग परमेश्वर की अपेक्षा से रहित, कर्म से जन्य अपूर्व (धर्माधर्म) से ही सुख दुःख की प्राप्ति को कहते हैं, उनका खण्डन करते हुए गन्धर्वराज श्रीहरि और हर की स्तुति करते हैं:—

क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा कृतपरिकरः कर्मसु जनः ॥२०॥

क्रताविति । हे त्रिपुरहरेति संबोधनं पूर्वश्लोकादनुषज्यते । क्रतौ यागादिकर्मणि आशुतरविनाशिस्वभावत्वात्सुप्ते लीने स्वकारणे सूक्ष्मरूपतां प्राप्ते ध्वस्ते सति । क्रतुमतां यागादिकर्मकारिणां कालान्तरदेशान्तरभावितत्तत्फलसंबन्धे तन्निमित्तं त्वं जाग्रदसि प्रबुद्ध एव वर्तसे । वर्तमाने विहितेन शत्रा जागरणस्य सर्वदास्तित्वमुच्यते तेन सर्वदैवावहितोऽसीत्यर्थः । ननु लिङादि-

पदवाच्यक्रियायाः स्वर्गादिसाधनत्वान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमपूर्वमेव फलयोगाय जागर्ति किमीश्वरेणेत्यत आह। क्वेत्यादि। प्रध्वस्तं विनष्टं कर्म पुरुषस्य चेतनस्य फलदातुराराधनं विना क्व फलति। न क्वापीत्यर्थः। नहि लोके कुत्रापि विनष्टस्य कर्मणोऽपूर्वद्वारा फलजनकत्वं दृष्टम्। लोकानुसारिणी च वेदेऽपि कल्पना लोकवेदाधिकरणन्यायात्। चेतनस्य तु राजादेराराधितस्य विनैवापूर्वं सेवादेः फलजनकत्वं दृश्यते। तत्र लोकदृष्टप्रकारेणैव वैदिककर्मणामपि फलजनकत्वसंभवे न लोकविरुद्धापूर्वफलदातृत्वकल्पनावकाशः। अपूर्वं हि लोकसिद्धकारणान्तरनिरपेक्षं वा स्वर्गादिफलं जनयेत्तत्सापेक्षं वा। आद्ये तत्फलोपभोगयोग्यदेहेन्द्रियादिकमपि नापेक्षेत। न चैतदिष्टं, सर्वस्यापि सुखदुःखादेः शरीरसंयुक्तात्ममनोयोगादिदृष्टकारणजन्यत्वाभ्युपगमात्। द्वितीये तु लोकसिद्धदेहेन्द्रियाद्यपेक्षावदीश्वरापेक्षापि नियता, लोके तथादर्शनात्। तस्माच्छ्रुतिन्यायसिद्धेश्वरपदार्थधर्मिबाधकल्पनाद्वरमपूर्वपदार्थस्य नैरपेक्ष्यधर्ममात्रबाधकल्पनम्। 'फलमत उपपत्तेः' इति न्यायात्। इदं चापूर्वमभ्युपेत्य तत्सापेक्षत्वमीश्वरस्योक्तम्। वस्तुतस्तु नापूर्वे किंचित्प्रमाणमस्ति। लिङादीनामिष्टाभ्युपायतावाचकत्वात्। तदन्यथानुपपत्तेश्च श्रुतिन्यायसहस्रसिद्धपरमेश्वरेणैवोपपत्त्यात् नापूर्वसिद्धिः। अपूर्वं च तत्फलदातृत्वं च द्वयं भवद्भिः कल्प्यम्। अस्माभिस्तु केवलमीश्वरः कल्प्यः। तस्य फलदातृत्वादिकं तु चेतनत्वाद्राजादिवल्लोकसिद्धमेव। सर्वज्ञत्वेन च तत्तत्कर्मानुरूपफलदातृत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषप्रसङ्गः। यत एवं त्वमेव सर्वकर्मफलदाताऽतस्त्वां क्रतुषु श्रौतस्मार्तकर्मसु कालान्तरफलसाधनेषु फलदानप्रतिभुवं फलदानाय लग्नकमिव संप्रेक्ष्य सम्यक् श्रुतिस्मृतिन्यायैः प्रकर्षेण निश्चित्य कर्मफलदातुस्तव सद्भावप्रतिपादिकायां हि श्रुतौ 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः' 'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः' 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते एष उ एव वाऽसाधु' इत्यादिकायां श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा अर्थवादत्वप्रयुक्तस्वार्थाप्रामाण्यशङ्कानिरासेन लोकसिद्धदृढतरन्यायानुगृहीततया

देवताधिकरणन्यायेन स्वार्थे प्रामाण्यं निश्चित्य जनः श्रुतिस्मृतिविहितकर्माधिकारी कर्मसु श्रौतस्मार्तेषु कृतपरिकरः कृतः परिकर उद्यमो येन स तथा। कृतारम्भो भवतीत्यर्थः। प्रतिभूसादृश्यं च एतावन्मात्रेणैव विवक्षितम्। यथा कश्चिदुत्तमर्णः प्रमाणनिश्चितं दीर्घकालावस्थानं स्वधनार्पणसमर्थं कंचित्प्रतिभुवं निरूप्य अधमर्णे पलायिते मृते वा एतस्मादेव कुशलिनः प्रतिभुवः सकाशात्स्वधनं प्राप्स्यामीत्यभिप्रायेण यस्मैकस्मैचिदधमर्णायर्णं प्रयच्छति तद्वदधमर्णस्थानीये कर्मणि प्रलीनेऽपि परमेश्वरादेव प्रतिभूस्थानीयात्तत्फलं प्राप्स्यामीत्यभिप्रायेणोत्तमर्णस्थानीयो यजमानो निःशङ्कमेव कर्मानुतिष्ठतीति भावः। हरिपक्षेप्येवं। शेषं पूर्ववत्। यद्वा सुजनः साधुजनः कर्म श्रुतिस्मृतिविहितं कर्माकृत कृतवान्। कीदृशः सुजनः। परिकरः परि सर्वतः कं सुखं राति ददातीति तथा सर्वेषां सुखकरः। अहिंसक इत्यर्थः। 'दृढपरिकरः' इति क्वचित्पाठः। तस्य दृढारम्भ इत्यर्थः। अयं च न सांप्रदायिकः ॥ २० ॥

हे त्रिपुरहर! अत्यन्त शीघ्र नष्ट हो जाने वाले याग आदि कर्म जब अपने कारण में लीन (सूक्ष्मरूप को प्राप्त) हो जाते हैं तब याग आदि कर्म करने वालों का कालान्तर तथा देशान्तर में होने वाले तत्तत्फलों के साथ सम्बन्ध करने के लिये आप सदा जागते रहते हैं। वर्त्तमानकाल अर्थ में विधान किये गये शतृप्रत्यय से जागने का सदा अस्तित्व कहा गया है, आप सदा इस विषय मे सावधान रहते हैं—ऐसा अभिप्राय है। (शङ्का) लिङ्आदिपदवाच्य 'क्रिया' पर स्वर्गादिसाधनत्व की अन्यथाऽनुपपत्ति न हो सकने के कारण कल्पित अपूर्व ही तत्तत्फल के साथ कर्त्ता का सम्बन्ध कराने में सावधान रहता है—ऐसा ही अर्थ कहना चाहिए, इस विषय में ईश्वर से क्या प्रयोजन है? (समाधान) नष्ट हुआ कर्म परमात्मा की आराधना बिना कहाँ फल देता है? अर्थात् कहीं भी नहीं, क्योंकि लोक में कहीं भी नष्ट हुए कर्म को अपूर्व (कर्म से जन्य फलपर्य्यन्तस्थायी कोई कल्पित अदृष्ट वस्तु)

द्वारा फल देते हुए नहीं देखा है। लोकवेदाधिकरणन्याय से वेद में भी लोकानुसारिणी ही कल्पना उचित है, और आराधन किये गये चेतन राजा आदि को तो अपूर्व के बिना ही सेवा आदि का फल देते हुए देखते हैं, अतः जब लोकदृष्ट प्रकार से ही वैदिक कर्मों में फलजनकता सम्भव है तब लोकविरुद्ध अपूर्व को फल देने वाला मानने में कोई अवकाश नहीं है। यतः अपूर्व लोकप्रसिद्ध दूसरे कारणों की अपेक्षा न करके स्वर्ग आदि फल को उत्पन्न करता है या अन्य कारणों की अपेक्षा करके? प्रथम विकल्प मानो तो अपूर्व, तत्तत् फल के उपभोग के योग्य देह इन्द्रिय आदि की भी अपेक्षा न करेगा! और ऐसा तुम को कभी भी इष्ट नहीं है, क्योंकि जितने भी सुख दुःख हैं तुम उन सब को शरीर से युक्त आत्मा और मन के संयोग आदि दृष्टकारणों से जन्य मानते हो। द्वितीय विकल्प में तो लोकप्रसिद्ध "देहइन्द्रियादि की अपेक्षा" के समान ईश्वर की अपेक्षा भी अवश्यमेव है, क्योंकि लोक में ऐसा ही देखने में आता है अतः श्रुति तथा न्याय से सिद्ध ईश्वर पदार्थरूप धर्मी के बाध की कल्पना की अपेक्षा से 'फलमत उपपत्तेः' न्याय के अनुसार अपूवपदार्थ में नैरपेक्ष्य (आकाङ्क्षा का अभाव) रूप धर्ममात्र के बाध की कल्पना करना अच्छा है यह समाधान अपूर्व को मान कर ईश्वर में अपूर्व को सापेक्षता (आकाङ्क्षा) कही गई, वस्तुतः तो अपूर्व के होने में कोई प्रमाण ही नहीं है, लिङ् आदि का अर्थ तो 'इष्टसाधनता' है। सहस्रों श्रुति तथा न्यायों से सिद्ध परमेश्वर से ही इष्टसाधनतान्यथानुपपत्ति का उपक्षय (निष्फलता) हो जाने से अपूर्व की सिद्धि नहीं हो सकती। (अर्थात् याग आदि में स्वर्गादि इष्ट के प्रति साधनता 'अपूर्व' को न मान कर और किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकती अतः अपूर्व की कल्पना करते हो परन्तु यह व्यर्थ है, क्योंकि ईश्वरद्वारा ही उस साधनता

की सिद्धि हो सकती है ।) 'अपूर्व' और उस में 'फलदातृत्व'—ये दो पदार्थ आप को कल्पना करने पड़ते हैं, हम को तो केवल ईश्वर कल्पनीय है, उसमें फलदातृत्व आदिक तो चेतन होने के कारण राजा आदि के समान लोक से ही सिद्ध है, ईश्वर सर्वज्ञ है वह तत्तत्कर्म के अनुरूप (योग्य) फल को दे सकता है अतः उस पर वैषम्य और नैर्घृण्य (निर्दयता) आदि दोषों का प्रसङ्ग नहीं है, यतः इस प्रकार आप ही सर्व कर्मफलों के देने वाले हैं, अतः आप कालान्तर में होने वाले फल के साधन यागादि श्रौत स्मार्त्त कर्मों के फलप्रदान में प्रतिभू (जामिन) हैं—यह बात अच्छे प्रकार से श्रुति तथा न्यायों से निश्चय करके, एवं "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः ।" (हे गार्गि ! धारण किये गये स्वर्ग और पृथिवी इस परमात्मा की आज्ञा में स्थिर हैं,।अर्थात् स्वर्गलोक और पृथिवी दोनों यद्यपि सावयव होने के कारण स्फुटनस्वभाव (टूटना है स्वभाव जिनका) हैं, भारी होने से पतनस्वभाव हैं, संयुक्त होने से वियोगस्वभाव हैं और चेतन अभिमानिनी देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण स्वतन्त्र हैं, तथापि इस परमात्मा के शासन में रह कर स्थित हो रहे हैं, परमात्मा के शासन के कारण ही टूटते नहीं, गिरते नहीं, वियुक्त (जुदा) होने नहीं पाते, और स्वतन्त्र होते हुए भी परमात्मा की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करते, जैसे प्रजाएँ राजा के शासन में रहकर मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करती हैं। यह परमात्मा सब व्यवस्थाओं का बाँधने वाला है, अतः स्वर्ग और पृथिवी लोक इसके शासन को उल्लङ्घन नहीं करते हैं, इस प्रकार परमात्मा की सत्ता सिद्ध होती है, यदि परमात्मा न होता तो स्वर्ग और पृथिवी आदि नियम में कभी भी न रहते, टूट फूट जाते, गिर पड़ते, विभाग को प्राप्त हो जाते, किसी असंसारी चेतन शासक के बिना इनका नियम में रहना ही असम्भव है) ।

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ।" हे गार्गि ! अपने आप दुःख उठा कर भी जो लोग सुवर्ण आदि का दान करते हैं, शास्त्र-रूप प्रमाण के जानने वाले पुरुष भी उनको प्रशंसा करते हैं, यद्यपि जो कुछ दान दिया जाता है, जो देने वाले हैं, और जो उस दान को ग्रहण करते हैं उन सब का यहीं जीते जी समागम है, तत्प-श्चात् उनका विलय (नाश) भी प्रत्यक्ष देखने में आता है, मरणानन्तर उनका समागम तो अदृष्ट है तथापि दाता का दानफल के साथ संयोग देखते हुए शास्त्ररूप प्रमाण जानने वाले पुरुष दानी की प्रशंसा करते हैं, यदि कर्मफल के साथ सम्बन्ध कराने वाला और कर्म करने वालों के कर्मफलों के विभाग को जानने वाला कोई शासक न हो तो यह सब दान आदि करना ही व्यर्थ हो जाय, क्योंकि दानक्रिया तो प्रत्यक्ष ही नष्ट हो जाती है, अतः दानकर्त्ताओं का दानफल के साथ संयोग कराने वाला कोई अवश्य ही है। यदि कहो कि 'अपूर्व' ही फल से संयोग कराने वाला रहे, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अपूर्व की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि परमात्मा की सत्ता में भी कोई प्रमाण नहीं है तो यह कथन अयुक्त है क्योंकि श्रुति का तात्पर्य्य परमात्मा में ही है, अतः परमात्मा श्रुति से सिद्ध है, इत्यादि व्या-ख्यान भाष्य में विस्तारपूर्वक है समर्थ विज्ञ पाठक स्वयं वहां देख लें। तथा देवता लोग ऐश्वर्य्यसम्पन्न होकर भी अपने जीवन के लिये यजमान के अधीन हैं, क्योंकि यजमान से दिये गये चरु पुरोडाश आदि उनके उपजीवन हैं। यह सब परमेश्वर के शासक होने से ही हो सकता है, इसी प्रकार पितर भी अपने जीवन के लिये दर्वी (होम आदि) के परवश हैं, अतः सब देवता पितर आदि परमात्मा के शासन में रह कर जन्मो के द्वारा विभाग तथा नियत

किये गये पुरोडाश आदि अपने अपने हविष्यान्न को ग्रहण करके अपना जीवन उत्साहपूर्वक व्यतीत करते हैं ।)

"कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः ।" (परमात्मा कर्म का अध्यक्ष (कर्मों के फलों को यथाधिकारी विभाग करके देने वाला) और सर्व प्राणियों के निवास का कराने वाला है ।)

"एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते एष उ एव वाऽसाधु ।" (यह परमेश्वर ही जिस को उत्तम लोकों में ले जाने की इच्छा करते हैं उन से पुण्यकर्म करवाते हैं और जिन्हें अधम-लोकों में ले जाना चाहते हैं उन से पापकर्म करवाते हैं ।)

इन ऊपर कही गई श्रुतियों में श्रद्धा करके (अर्थात् अर्थवादों से श्रुत्यर्थ के विषय में अप्रामाण्यशङ्का को दूर करके, और लोक-सिद्ध अत्यन्त पुष्ट न्यायों से अनुगृहीत होने के कारण 'देव-ताधिकरण' न्याय से श्रुत्यर्थ में प्रामाण्य का निश्चय करके) श्रुति स्मृति में कथन किये गये कर्मों में अधिकारी लोग श्रौत और स्मार्त्त कर्मों में तत्पर हो रहे हैं । परमात्मा को प्रतिभू (ज़ामिन) के साथ सादृश्य इतने ही अर्थ में विवक्षित है कि जैसे उत्तमर्ण (साहू-कार) किसी प्रामाणिक, दीर्घ काल तक रहने वाले और अपने धन को देने में समर्थ प्रतिभू की जांच करके तथा 'अधमर्ण (ऋणी) के भाग जाने पर या मर जाने पर उसी प्रतिभू से अपना धन प्राप्त कर लूंगा'—इस अभिप्राय से किसी प्रतिभू को नियत करके जिस किसी अधमर्ण को ऋण दे देता है, उसी प्रकार अधमर्णस्थानापन्न कर्म के नष्ट हो जाने पर भी प्रतिभूस्थानीय परमेश्वर से ही उसके फल को ले लूंगा, इस अभिप्राय से उत्तमर्णस्थानीय यजमान निः-शङ्क हो कर कर्मानुष्ठान करता है—यह भाव है ।

हरिपक्ष में—शेष सब अर्थ पूर्ववत् है । यद्वा सुजन का अर्थ साधुजन है, परिकर का अर्थ (परि सर्वतः कं सुखं राति ददातीति

तथा) 'सब को सुखकर अर्थात् 'अहिंसक' है । किसी किसी पुस्तक में 'दृढपरिकरः' ऐसा पाठ है उसका अर्थ दृढारम्भ है, परन्तु वह पाठ साम्प्रदायिक नहीं है ॥ २० ॥

एवं भगवत्प्रसादेन क्रतुफलप्राप्तिमुक्त्वा विहितानां शुभफलजनकत्वानुपपत्त्या धर्माख्यमपूर्वं द्वारत्वेन कल्पनीयमिति पक्षो निराकृतः । संप्रति विहिताकरणनिषिद्धकरणयोरशुभफलस्य भगवत्प्रसादासाध्यत्वात्तदर्थमवश्यमधर्माख्यमपूर्वं कल्पनीयमिति शङ्कायां राजाज्ञालङ्घनादेरिव भगवदाज्ञोल्लङ्घनादखिलानर्थफलत्वं दृष्टद्वारेणैव भविष्यतीत्यभिप्रायेण भगवतोऽप्रसादेन क्रतुफलाप्राप्तिमनर्थप्राप्तिं च दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

इस प्रकार भगवान् के अनुग्रह से क्रतु (याग) फल की प्राप्ति कह कर 'शास्त्र से विधान किये गये कर्मों में शुभफलजनकता का उपपादन न हो सकने के कारण द्वाररूप से धर्मनामक अपूर्व को मानना चाहिए'—इस पक्ष का खण्डन किया । अब 'विधान किये गये कर्मों के न करने से और निषिद्ध कर्मों के करने से जो अशुभ फल होता है वह भगवान् के अनुग्रह से तो साध्य नहीं है अतः उसके लिये अधर्म नामक अपूर्व की कल्पना करनी चाहिए'—ऐसी शङ्का के होने पर, 'जैसे राजा की आज्ञा उल्लङ्घन करने से अनर्थरूप फल होता है ऐसे ही भगवान् की आज्ञा के उल्लङ्घन करने से अनर्थरूप फल होता है'—इस दृष्ट रीति से ही अशुभफल हो सकता है—इस अभिप्राय से भगवान् के अनुग्रह बिना कर्मफल की अप्राप्ति और अनर्थ फल की प्राप्ति दिखाते हुए गन्धर्वराज हरि और हर की स्तुति करते हैं:—

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः ।

क्रतुभ्रेषस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः ॥२१॥

क्रियेति । हे शरणद, दक्षो दक्षनामा प्रजापतिः स्वयं क्रियास्वनुष्ठेयासु दक्षः प्रवीणः यज्ञविधौ कुशल इत्यर्थः । एतेन विद्वत्त्वमधिकारिविशेषणमुक्तम् । तथा तनुभृतां शरीरिणामधीशः स्वामी प्रजापतित्वात् । एतेन सामर्थ्यमधिकारिविशेषणमुक्तम् । एतादृशः क्रतुपतिर्यजमानः । तथा ऋषीणां त्रिकालदर्शिनां भृगुप्रभृतीनामार्त्विज्यमृत्विक्त्वमध्वर्य्वादिरूपता । तथा सुरगणा ब्रह्मादयो देवगणाः सदस्याः सभ्या उपद्रष्टारः । एतादृशसर्वसामग्रीसंपत्तावपि त्वत्तः परमेश्वरादप्रसन्नात्क्रतोर्यज्ञस्य भ्रेषः भ्रंशो जातः । कीदृशात् । क्रतुफलविधानव्यसनिनः क्रतोर्यज्ञस्य फलं स्वर्गादि तस्य विधानं निष्पादनं तेन व्यसनी तदेकनिष्ठस्तस्मात् क्रतुफलदातृस्वभावोऽपि त्वमवज्ञाय क्रतुभ्रंशहेतुतां नीत इत्यर्थः । एतदेव द्रढयन्नाह । ध्रुवमिति । ध्रुवं निश्चितं क्रतुफलदातरि परमेश्वरे विषये श्रद्धाविधुरं भक्तिरहितं यथा स्यात्तथानुष्ठिता मखा यज्ञाः कर्तुर्यजमानस्याभिचाराय नाशायैव भवन्तीत्यर्थः ।

हे शरणद ! दक्षप्रजापति जो अनुष्ठान करने योग्य क्रियाओं में स्वयं प्रवीण है, अर्थात् यज्ञकर्म में कुशल है (इस से अधिकारी का विशेषण 'विद्वत्ता' कहा गया), तथा प्रजापति होने से शरीरधारियों का स्वामी है (इस से अधिकारी का विशेषण 'सामर्थ्य' कहा गया), ऐसा दक्ष तो यजमान है । और त्रिकालदर्शी भृगु आदि महर्षि जिस याग में अध्वर्य्यु आदि ऋत्विक् हैं, तथा ब्रह्मा आदि देवतागण जिस यज्ञ के सभ्य (द्रष्टा) हैं, ऐसी सर्व सामग्री सम्पत्ति के होने पर भी, आप (परमेश्वर) की अप्रसन्नता से यज्ञ का ध्वंस हो गया ! आप यद्यपि यज्ञ के स्वर्ग आदि फल के सम्पादन करने में व्यसनी हैं तथापि याग के फलों को देने वाले आपकी अवज्ञा करनेमात्र से दक्ष ने आपको अपने याग के ध्वंस का कारण बना

दिया ! इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं, 'ध्रुवमिति ।' यह निश्चय है कि यागफल के देने वाले परमेश्वर के विषय में भक्ति-रहित हो कर जो यज्ञ किये जाते हैं वे यजमान के नाश के ही कारण होते हैं ।

हरिपक्षे तु । तनुभृतामधीशः क्रतुपतिः तनुं स्वशरीरमेव बिभ्रति पुष्णन्तीति तनुभृतो दैत्या वेदबाह्यास्ते हि सुरनरपितृभ्यो न प्रयच्छन्ति सर्वहिंसया स्वशरीरमेव पुष्णन्ति तेषामधीशो राजा बलिः क्रतुपतिर्यजमानः, अथवा तनून्क्षीणान्बिभ्रति पुष्णन्ति ते तनुभृतो वदान्यास्तेषामधीशो दातृ-वीराग्रगण्यो बलिः । कीदृशः । क्रियादक्षोदक्षः उत्कृष्टान्यक्षाणीन्द्रियाणि यस्य स उदक्षः क्रियादक्षश्चासावुदक्षश्चेति स तथा । सुरेषु देवेषु गण्यन्ते इति सुरगणा देवतुल्याः पुरुषाः सदस्याः श्रद्धाविधुरत्वं च भगवदनुग्रहीतेन्द्रादिदेवगणैः सह विरोधात् । स्वभक्तद्रोहो हि भगवतः स्वद्रोहादप्यधिकः । शेषं पूर्ववत् ॥२१॥

हरिपक्ष में—'तनुभृतामधीशः क्रतुपतिः' का अर्थ जो केवल शरीर का ही पोषण करते हैं वे दैत्य 'तनुभृत्' कहलाते हैं, क्योंकि देव, मनुष्य और पितरों के लिये वह वेदबाह्य दैत्य लोग कुछ भी यज्ञ दान आदि नहीं करते, सब की हिंसा करके अपने शरीर को ही पोषण करते हैं, उनका अधीश (राजा) बलि तो यजमान था । अथवा 'तनून् क्षीणान् बिभ्रति पुष्णन्ति ते तनुभृतो वदान्याः' इस व्युत्पत्ति से जो दरिद्रों का पोषण करें वे दानी लोग ही 'तनुभृत्' पद का अर्थ है, दानियों का अधीश बलि राजा—ऐसा अर्थ है । कैसा बलि है ? 'क्रियादक्षोदक्षः' जिस के इन्द्रिय उत्कृष्ट हों उसे 'उदक्ष', क्रियादक्ष और उदक्ष को 'क्रियादक्षोदक्ष' कहते हैं अर्थात् वह बलि क्रिया में चतुर और बलवान् इन्द्रियों वाला था । 'सुर-गण' जिनकी गणना देवों में की जाय, ऐसे देवतुल्य पुरुष जिसके सदस्य थे । बलि में श्रद्धाविधुरता (भक्तिशून्यता) यही थी कि वह भगवान् के भक्त इन्द्र आदि देवतागणों के साथ विरोध करता था,

क्योंकि भगवान् के भक्तों का द्रोह भगवान् की दृष्टि में अपने द्रोह से भी बढ़ कर है। शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ २१ ॥

अथ ब्रह्ममारीचयोर्मृगरूपयोर्वधं दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

अब मृगरूपधारी ब्रह्मा और मारीच के वध को दिखाते हुए श्री हरि और हर की स्तुति पुष्पदन्त महाराज करते हैं:—

प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा ।
धनुःपाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ॥२२॥

प्रजानाथमिति। हे नाथ नियामक, तव परमेश्वरस्य धनुःपाणेः धृतपिनाकस्य मृगव्याधरभसः मृगान्विध्यतीति मृगव्याधो लुब्धकः तस्येव रभस उत्साहातिरेको मृगव्याधरभसः शर एव तथा आरोपितः स चार्द्रानक्षत्ररूपेण परिणत इति पुराणप्रसिद्धः। अमुं प्रजानाथं ब्रह्माणं दिवं स्वर्गं यातं प्राप्तमपि नक्षत्रमध्ये मृगशिरोरूपेण परिणतमपि तथा सपत्राकृतं सह पत्रेण शरं शरीरे प्रवेश्यातिव्यथां नीतः सपत्राकृतस्तादृशमिवात्मानं मन्यमानम्। रूपकमेतत्। शरस्यार्द्रानक्षत्ररूपेण संनिधानमात्रं नतु ताडनमिति द्रष्टव्यम्। अथवा शरेण ताडित एव ब्रह्मा रुद्रस्य क्रोधोत्साहविशेष एवार्द्रानक्षत्ररूपेण परिणत इति पुराणान्तरप्रसिद्ध्या द्रष्टव्यम्। अतएव त्रसन्तं बिभ्यन्तमद्यापि न त्यजति। इदानीमपि धनुष्पाणिमेव त्वां सर्वदा दर्शयतीत्यर्थः। तस्यैतादृशदण्डार्हतामाह। स्वामात्मीयां दुहितरं पुत्रीं रोहिद्भूतां लज्जया मृगीभूतां ऋश्यस्य मृगस्य वपुषा शरीरेण रिरमयिषुं रमयितुमिच्छुम्। इयं चेल्लज्जया मृगीभूता तर्ह्यहमपि मृगरूपेणैनां भजिष्यामीति बुद्ध्या मृगरूपेण प्रसभं हठेनानिच्छन्तीमपि तां

गतं रत्यर्थं प्राप्तम् । तस्य परमवशिनोऽपि स्वमर्यादातिक्रमे कारणं वदन्वि-शिनष्टि । अभिकं कामुकम् । कामेनाभिभूतत्वात्स्वमर्यादोल्लङ्घिनमित्यर्थः । एवंहि पुराणेषु प्रसिद्धम्—'ब्रह्मा स्वदुहितरं संध्यामतिरूपिणीमालोक्य कामवशो भूत्वा तामुपगन्तुमुद्यतः । सा चायं पिता भूत्वा मामुपगच्छतीति लज्जया मृगीरूपा बभूव । ततस्तां तथा दृष्ट्वा ब्रह्मापि मृगरूपं दधार । तच्च दृष्ट्वा त्रिजगन्नियन्त्रा श्रीमहादेवेनायं प्रजानाथो धर्मप्रवर्तको भूत्वाप्येतादृशं जुगुप्सितमाचरतीति महतापराधेन दण्डनीयो मयेति पिनाकमाकृष्य शरः प्रक्षिप्तः ततः स ब्रह्मा व्रीडितः पीडितश्च सन् मृगशिरोनक्षत्ररूपो बभूव । ततः श्रीरुद्रस्य शरोऽप्यार्द्रानक्षत्ररूपो भूत्वा तस्य पश्चाद्भागे स्थितः । तथा चार्द्रामृगशिरसोः सर्वदा संनिहितत्वादद्यापि न त्यजति' इत्युक्तम् ।

हे नाथ ! धनुर्धारी आपका शिकारी के उत्साह के समान बढ़ा हुआ वह उत्साह (पुराण में यह प्रसिद्ध है कि ताने हुए धनुष् में लगाया हुआ बाणही 'आर्द्रा' नक्षत्ररूप में परिणत हो रहा है) स्वर्ग में पहुँचे (नक्षत्रों के मध्य में 'मृगशिरा' रूप में परिणत) हुए भी ब्रह्मा को बाण से शरीर में वेधनपूर्वक अत्यन्त पीडन करके भी, और यद्यपि वर डर रहा है तथापि आज तक नहीं छोड़ता है, अर्थात् वह उत्साह आज तक आप को धनुष् हाथ में लिये हुए ही दिखा रहा है । वह ब्रह्मा ऐसे दण्ड का भागी क्यों हुआ ? इसका कारण कहते हैं कि जो ब्रह्मा, लज्जा के कारण हरिणीरूप को प्राप्त हुई अपनी पुत्री से रमण करने की इच्छा से हरिण के शरीर को धारण किये हुए है । 'यह यदि लज्जा से मृगीरूप को प्राप्त हुई है तो मैं भी मृगरूप से इससे रमण करूंगा'—इस बुद्धि से मृग का रूप धारण करके न चाहती हुई भी शतरूपा को हठ से मैथुन के लिये जो प्राप्त हुआ है । परम जितेन्द्रिय ब्रह्मा के भी स्वमर्यादा के उल्लङ्घन में कारण कहते हैं, जो ब्रह्मा अत्यन्त कामुक हो रहा है अर्थात् कामदेव से पीड़न होने के कारण ही मर्यादा का उल्लङ्घन कर

रहा है। ऐसा पुराणों में प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा अत्यन्त सुन्दर रूप वाली अपनी पुत्री शतरूपानामवाली संध्या को देख कर कामदेव के वश में होकर उससे उपगत होने को उद्यत हुआ और वह 'यह पिता होकर मुझ से उपगत होता है—इस लज्जा के कारण हरिणीरूप हो गई, तब उसे हरिणी के रूप में देख कर ब्रह्मा ने भी मृग का रूप धारण कर लिया, इस घटना को देख कर तीनों जगत् के नियन्ता श्रीमहादेवजी ने 'यह प्रजानाथ (ब्रह्मा) धर्म का प्रवर्त्तक हो कर भी ऐसा निन्दित आचरण करता है अतः महान् अपराध के कारण यह मुझ से दण्डनीय है'—ऐसा विचार कर धनुष् को खैंच कर उस पर बाण का प्रहार किया, तब वह ब्रह्मा व्रीडित (लज्जित) और पीड़ित हो कर 'मृगशिरः' नक्षत्ररूप हो गया, तब श्रीरुद्र का बाण भी 'आर्द्रा' नक्षत्ररूप हो कर उसके पिछले भाग में स्थित हो गया ! तथा च आर्द्रा और मृगशिरः के सर्वदा पास पास रहने से 'आज तक भी नहीं छोड़ता है'—ऐसा कहा गया है।

हरिपक्षे तु । हे नाथ, रोहिद्भूतां गतं प्रजानाथं दिवं यातमपि अनुप्पाणेस्तव मृगव्याधरभसोऽद्यापि न त्यजति । रोहितो हरिण्याः सकाशाद्भवतीति रोहिद्भूर्हरिणशावकः तस्य भावो रोहिद्भूता तां गतम्। हरिणशावकत्वं प्राप्तमित्यर्थः। प्रजाः प्राणिनो नाथति उपतापयतीति प्रजानाथो राक्षसः स च प्रकृते मारीचाख्यस्तम् । किमर्थं तस्य मृगरूपधारणमित्यत आह। प्रसभमभिकं रिरमयिषुं प्रकृष्टा शौर्यादियुक्ता सभा यस्य स प्रसमस्तं तादृशं, अभितः कानि शिरांसि यस्य सोऽभिको दशग्रीवस्तम्। सीतापहरणोपायेन क्रीडयितुमिच्छुम्। तथा स्वां दुहितरमयोनिजां कन्यां सीतां ऋश्यस्य वपुषा विचित्रमृगशरीरेण रिरमयिषुं प्रमोदयितुमिच्छुम्। विचित्रमृगरूपं मां दृष्ट्वा सीता स्त्रीस्वभावादतिमुग्धा मच्चर्मग्रहणार्थं श्रीरामं प्रेरयिष्यति। ततो रामे बहुदूरं मयाऽपसारिते लक्ष्मणे च तद्गवेषणार्थं गते

एकाकिनीं सीतां रावणः सुखेन हरिष्यतीत्यभिप्रायेण धृतविचित्रमृगशरीरमित्यर्थः । अत एव बाणेन सपत्राकृतत्वाद्दिवं परलोकं यातम् । मृतमित्यर्थः । अमुं मृतमपि त्रसन्तमद्यापि तव मृगव्याधरभसो न त्यजतीत्युत्प्रेक्षारूपो ध्वनिः । शेषं पूर्ववत् ॥२२॥

हरिपक्ष में—हे नाथ ! शिकारी के समान आपका बढ़ा हुआ उत्साह हरिण के बच्चे के रूप को प्राप्त हुए मारीचनामक राक्षस को मार कर भी आज तक उसे नहीं छोड़ता है। मारीच ने मृग का रूप धारण क्यों किया ? इसके समाधान के बहाने मारीच को विशेषण देते हैं—उत्कृष्ट सभा वाले रावण को सीता के उपहरण के उपाय से प्रसन्न करने की इच्छा रखने वाले, तथा अयोनिज कन्या सीता को विचित्रमृग के शरीर से प्रमुदित करने की इच्छा वाले मारीच को (अर्थात् विचित्र मृगरूप में मुझे देख कर जब सीता स्त्रीस्वभाव के कारण अतिमुग्ध होकर मेरे चर्म के लिये श्रीराम को प्रेरणा करेंगी, और जब मैं राम को बहुत दूर तक ले जाऊँगा तब लक्ष्मण के भी राम को ढूंढ़ने के लिये चले जाने पर अकेली सीता को रावण सुखपूर्वक हर लेगा—इस अभिप्राय से विचित्रमृग के शरीर को मारीच ने धारण किया, उसके अनन्तर यद्यपि वह श्रीरामजी के बाण से बिंध कर मृत्यु को प्राप्त हो गया तथा मर कर भी वह डर रहा है तथापि) आज तक आपका शिकारी के समान वह उत्साह नहीं छोड़ता है—यह उत्प्रेक्षारूप ध्वनि है, शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥२२॥

परमवशिनां वरावपि श्रीराममहादेवौ लक्ष्मीपार्वत्यनुकम्पया स्त्रैणमिवात्मानं दर्शयत इति प्रतिपादयन्स्तौति—

महाजितेन्द्रियों में से श्रेष्ठ श्रीराम और श्री महादेव जी लक्ष्मी

तथा पार्वती पर दया करके अपने आप को स्त्रैण से (स्त्री में आसक्त के समान) दिखा रहे हैं—यह प्रतिपादन करते हुए गन्धर्वराज स्तुति करते हैं:—

स्वलावण्याशंसाधृतधनुषमह्नाय तृणव-
त्पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि ।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत देहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः ॥२३॥

स्वलावण्येति । हे पुरमथन, हे यमनिरत, यमनियमासनाद्यष्टाङ्गयोग-परायण । एतेन जितेन्द्रियत्वमुक्तम् । पुष्पायुधं कामं त्वया तृणवत्तृणमिव अह्नाय शीघ्रं प्लुष्टं दग्धं पुरः साक्षादेवाव्यवधानेन दृष्ट्वा चाक्षुषज्ञानविषयीकृत्य । कीदृशं पुष्पायुधम् । स्वलावण्याशंसाधृतधनुषं स्वस्याः पार्वत्याः यल्लावण्यं सौन्दर्यातिशयस्तद्विषया आशंसा परमयोगिनमपि श्रीरुद्रमस्याः सौन्दर्यातिशयेन वशीकरिष्यामीति या प्रत्याशा तया निमित्तभूतया धृतं धनुर्येनेति तथा तम् । एतेन स्वलावण्यातिशयस्यापि श्रीरुद्रविषयेऽकिंचित्करत्वमुक्तम् । तथा चैवं स्वलावण्यवैयर्थ्यं पुष्पायुधस्य तृणवद्दाहं च स्वयं साक्षात्कृत्वापि देवी पार्वती इयं चिरकालं मामुद्दिश्य तपः कृतवती विरहदुःखं मा प्राप्नोत्विति करुणा-मात्रेण देहार्धघटनात् त्वया स्वशरीरार्धेऽवस्थापनाद्धेतोर्भ्रमवीजात् यदि त्वां सर्वयोगिनां वरं स्त्रैणं यदयं मदधीनो न भवेत्कथं मां स्वशरीरार्धे स्थापयेदिति भ्रान्त्या स्त्रीसक्तं यदवैति विशेषादर्शनात्कल्पयति तर्हि तदद्धा युक्तमेव तस्याः । अयुक्तस्यापि युक्तत्वे हेतुमाह । बतेत्यादि । हे वरद, अतिदुर्लभमपि स्वदेहार्धं दत्तमिति वरदेति योग्यं संबोधनम् । बत अहो, युवतयस्तरुण्यः मुग्धा अतत्त्वज्ञाः । स्वभावत एवेति शेषः । तथा च सहजानां युवतिविभूषणानां प्रधानं मौग्ध्यमनुकुर्वन्त्याः स्वरूपतश्चितिरूपाया अपि देव्या मिथ्याज्ञानं युक्तमित्यर्थः ।

हे पुरमथन ! हे यमनिरत ! (यम, नियम, आसन आदि अष्टाङ्गयोगपरायण ! इस सम्बोधन से 'जितेन्द्रियत्व' कहा गया)। 'पार्वती के शरीर के सौन्दर्य्य से परम योगी श्रीरुद्र को वश में कर लूंगा'—इस आशा से जिस कामदेव ने धनुष् उठाया था, उस कामदेव को तृण के समान एकाएक आपसे दग्ध होते.हुए साक्षात् देख कर भी ('पार्वती के शरीर की कान्ति भी श्री महादेवजी के विषय में कुछ नहीं कर सकती' यह अर्थ उपर्युक्त वचन से कहा गया) पार्वती (जिसे आपने इस विचार से कि 'इस पार्वती ने चिरकाल तक मेरे लिये तप किया है यह विरहदुःख को प्राप्त न हो, करुणामात्र से अपने देह का आधा भाग बना कर अपने शरीर में स्थापन किया है, तथा यही जिस पार्वती के भ्रम का कारण है) सम्पूर्ण योगियों में श्रेष्ठ आपको भ्रम से यदि 'स्त्रीसक्त' मानती है। अर्थात् 'यदि यह स्त्रीसक्त न होते तो मुझे अपने शरीर के आधे भाग में कैसे स्थापन करते'—इस भ्रान्ति से यदि आपको 'स्त्रीसक्त' समझती है तो उसका ऐसा समझना उचित ही है ! क्योंकि हे वरद ! (जिस महादेवजी ने अपना अतिदुर्लभ आधा देह दे दिया उसके लिये 'वरद !' सम्बोधन उचित ही है।) अहो ! युवतियां स्वभाव से ही मुग्धा (भोली) होती हैं, तथा च युवतियों के भूषणों में से प्रधान भूषण स्वाभाविक भोलेपन का अनुकरण करती हुई देवी को स्वतः चिद्रूप होते हुए भी मिथ्याज्ञान होना युक्त ही है।

हरिपक्षे तु । हे अर्धघटनादव, घटनायां अर्धमित्यर्धघटना अर्धपिप्पलीवत् । तस्या दवो वनवह्निः । दाहक इति यावत् । सीतारूपाया लक्ष्म्याः रामरूपेणोचितात्संयोगात्स्वेच्छयाऽर्धसंभोगं दत्त्वाऽविप्रलम्भं दत्तवानसीत्यर्थः । सा पूर्वश्लोकोक्ता देवी सीतारूपालक्ष्मीः । कीदृशी । यमनिरतदेहा अत्यन्तपतिव्रता । तथा पुरमथनपुष्पा पुरस्य शरीरस्य मथनानि पीडकानि पुष्पाणि यस्याः सा तथा । पुष्पाणामपि स्पर्शासहा । अतिसुकुमाराङ्गीत्यर्थः । त्वां

श्रीरामरूपं यदि स्त्रैणमवैत्यवगच्छति तदद्धेत्यादिपूर्ववत् । त्वां कीदृशम् । स्वलावण्याशं स्वकीयं लावण्यमत्र शौर्यादिगुणकृतं सौन्दर्यं तस्मिन्नाशा यस्य स स्वलावण्याशस्तम् । सीताया अनुद्धरणात्स्वस्य शौर्यादिप्रसिद्धिर्गच्छेदिति स्वकीर्तिरक्षार्थिनमित्यर्थः । अत एव धृतधनुषं सज्जीकृतकोदण्डम् । इदमेकं भ्रमबीजमुक्तम् । भ्रमबीजान्तरमाह । अह्नाय तृणवत्पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा शीघ्रमेव तृणस्येव पुरो लङ्कायाः प्लुष्टं दाहम् । भावे क्तः । तथायुधं युद्धमपि दृष्ट्वा । आयुधशब्दस्य शस्त्रे युद्धे चानुशासनात् । तथा च स्वकीर्तिरक्षार्थमत्यन्तपतिव्रतायाश्च देव्याः कारुण्येन क्लेशविमोचनार्थं सज्जीकृतकोदण्डं त्वामर्धघटनादेवमप्ययं यदि मदधीनो न भवेत्तदा कथमेतादृशदुष्करकर्माणि मामुद्दिश्य कुर्यादिति भ्रमेण स्त्रीसक्तमिव कल्पयतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् ॥ २३ ॥

हरिपक्ष में—हे अधघटनादव ! (आधे संयोग को दग्ध करने वाले ! अभिप्राय यह है कि 'सीतारूप लक्ष्मी' का 'रामरूप विष्णु' के साथ नित्यसंयोग उचित है, परन्तु श्रीविष्णु ने रामावतार लेकर सीता के आधे संयोग को नष्ट कर दिया, अर्थात् स्वयंवर के समय संयोग हुआ, विवाह के अनन्तर श्री सीताजी अपने घर चली गई, फिर रामजी के अभिषेक के समय संयोग हुआ और वन में जाकर फिर वियोग हो गया, रावण को जीत कर जब अयोध्या में आये तब कुछ दिवस संयोग रहा परन्तु धोबी के आक्षेप पर फिर सीताजी को वनवास हो गया, तदनन्तर दस सहस्र वर्ष तक श्री रामजी ने राज्य किया परन्तु सीताजी से वियोग ही रहा, इस प्रकार बहुत थोड़ा समय संयोग का है और अधिक समय वियोग का है । अर्ध पद यहाँ समांशवाची नहीं समझना) वह देवी (सीतारूप लक्ष्मी) जो अत्यन्त पतिव्रता तथा पुरमथनपुष्पा (पुष्प जिसके पुर (शरीर) को पीड़ित करने वाले हैं अर्थात् अति सुकुमाराङ्गी) है, यदि आपको स्त्रीसक्त समझती है तो उसका ऐसा समझना उचित ही है—इत्यादि पूर्ववत् समझिये । आप कैसे हैं

कि जो अपने लावण्य (शूरता आदि गुणकृत सौन्दर्य्य) में आशा रखने वाले हैं (अर्थात् सीता का उद्धार न करने से मेरी शूरता आदि की प्रसिद्धि नष्ट हो जायगी इसलिये उसका उद्धार करके स्वकीर्त्ति की रक्षा करनी चाहिए—इस प्रकार आप अपनी कीर्त्ति की इच्छा रखते हैं।) अतएव धनुष् को आपने तैयार किया है। एक यह भी सीताजी के भ्रम का बीज है, भ्रम के दूसरे कारण को कहते हैं कि तृण के समान लङ्कापुर के झटपट दाह को तथा युद्ध को देख कर भी (आयुधशब्द युद्ध और शस्त्र दोनों अर्थों में है) यदि सीता आपको स्त्रैण समझती है, अर्थात् आपने अपनी कीर्ति की रक्षा के लिये तथा अत्यन्त पतिव्रता सीतादेवी पर करुणा करके उसे क्लेश से छुड़ाने के लिये यद्यपि धनुष् उठाया था और यद्यपि आप आधे से भी अधिक सीता के संयोग को नष्ट करने वाले हैं तथापि 'यदि श्रीराम मेरे अधीन न होते तो मेरे लिये ऐसे दुष्कर कर्म क्यों करते'—इस भ्रम से यदि आपको सीताजी स्त्रीसक्त के समान कल्पना करती हैं तो उनका ऐसा समझना युक्त ही है क्योंकि स्त्रियाँ स्वभाव से भोली होती हैं ॥२३॥

अथ स्वयममङ्गलशीलतया क्रीडन्नपि भक्तानां मङ्गलमेव ददासि, स्वयममङ्गलशीलानामपि भक्तानां त्वमेव मङ्गलमसीति च वदन् शंकरनारायणौ स्तौति—

अब, स्वयं अमङ्गल आचार से क्रीड़ा करते हुए भी आप भक्तों का मङ्गल ही करते हैं और अमङ्गलशील भक्तों के भी आप ही मङ्गल हैं, यह कहते हुए श्री शङ्कर और नारायण की गन्धर्वराज स्तुति करते हैं:—

स्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः ।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि ॥२४॥

स्मशानेति । हे स्मरहर, हे वरद, तवाखिलमपि शीलं सर्वमपि चरितं एवंप्रकारेणामङ्गल्यं मङ्गलविपरीतं भवतु नाम । किं नस्तेन निरूपितेनेत्यर्थः । तथापि स्वयममङ्गलशीलोऽपि स्मर्तॄणां तव स्मरणकर्तॄणां त्वं परमं मङ्गलमेवासि निरतिशयं कल्याणमेव भवसि । तेनामङ्गलशीलोऽयं रुद्रो न मङ्गलकामैः सेवनीय इति भ्रमं परिहृत्य मनोवाक्कायप्रणिधानैः सर्वदा सर्वैः सेवनीयोऽसीत्यर्थः । एवंपदसूचितममङ्गल्यं शीलमेव दर्शयति । स्मशानेष्वित्यादि । स्मशानेषु शवशयनेष्वासमन्तात्केलिः, पिशाचाः प्रेताः सहायाः, चिताभस्म शवदाहस्थं भस्माङ्गरागसाधनम्, नृकरोटी मनुष्यशिरोस्थिसमूहस्रङ्माला । अपिशब्दादन्यदप्यार्द्रचर्मादि ।

हे स्मरहर ! हे वरद ! आपका सम्पूर्ण शील (चरित्र) इस प्रकार अमङ्गल्य (मङ्गल से विपरीत) भी रहे, हमें उसके निरूपण करने से क्या प्रयोजन ? तथापि स्वयं अमङ्गलशील हो कर भी भक्तों के लिये आप परम मङ्गल ही हैं, अत्यन्त कल्याणरूप ही हैं, अतः 'अमङ्गलशील रुद्र की मङ्गल चाहने वालों को उपासना नहीं करनी चाहिए'—इस भ्रमको छोड़ कर मन, वाणी और शरीर द्वारा सर्वदा सभी पुरुषों को आप की उपासना करनी चाहिए । 'एवं' पद से सूचित अमङ्गल्य शील को ही दिखाते हैं—स्मशानों में क्रीड़ा करना, पिशाचों का सहचर (मित्र) होना, चिता का भस्म ही शरीर में लगाने का लेप, नृकरोटी (मनुष्य के सिर की हजारों अस्थियों की माला), अपि शब्द से और भी

गजासुर का आर्द्र (गीला) चमड़ा (जिस में से रक्त आदि की बूदें टपकती रहती हैं) आदि समझना चाहिए ।

हरिपक्षे तु । हे वरद, तव स्मर्तॄणाममङ्गल्यं शीलं भवतु नाम, तथापि तेषां त्वमेव परमं मङ्गलमसीत्यर्थः । तथाच गीतासु—'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः' इति । अथवा तव नामस्मर्तॄणामिति योज्यम् । नाममात्रं स्मरतां परमं मङ्गलमसि त्वां स्मरतां तु किमु वाच्यमित्यर्थः । कीदृशं नाम । अखिलं न खिलं फलरहितमखिलं सर्वदा सर्वत्र सफलमित्यर्थः । अत्यन्तपापित्वेन प्रसिद्धानामजामिलादीनामपि त्वं नाममात्रस्य पुत्रनामत्वेन मरणव्यथया शिथिलकरणत्वेन च मन्दमुच्चारणेऽपि सर्वपापक्षयद्वारा परमपुरुषार्थप्राप्तिश्रवणात् । अमङ्गल्यं शीलमेव दर्शयति । स्मशानेष्वित्यादिरूपकेण । अत्यन्ततिरस्कृतिवाच्यो ध्वनिरयं लक्षणामूलः । शवशयनतुल्येषु सर्वदा रोदनप्रधानेषु गृहेष्वा ईषत् क्रीडा । अल्पकालं वैषयिकतुच्छसुखप्राप्तिरित्यर्थः । तथाच स्मरहरपिशाचाः सहचराः स्मरणं स्मरः शास्त्रीयो विवेकस्तं हरन्तीति स्मरहराः पिशाचतुल्याः पुत्रभार्यादयः पिशाचाः, स्मरहराश्च ते पिशाचाश्च स्मरहरपिशाचाः । यथा पिशाचाः स्वावेशेन ज्ञानलोपं कृत्वा पुरुषमनर्थे योजयन्ति तथा पुत्रभार्यादयोऽपि । तादृशाश्च वस्तुगत्या वैरिणोऽपि सहैव चरन्ति न क्षणमपि त्यजन्तीति । सहचराः । तथा चिताभस्मतुल्य आलेपः । देहस्य विण्मूत्रपूयादिपूर्णत्वेनातिजुगुप्सितत्वात्तदालेपनस्याप्यतिजुगुप्सितत्वम् । तथा मनुष्यशिरोस्थिसमूहतुल्या माला पिशाचतुल्यं भार्यादि विनोदहेतुत्वात् । अपिशब्दादन्यदपि सर्वं चरितं विषयसङ्गिनाममङ्गलमेव । एतादृशा अपि चेत्त्वां त्वन्नाम वा स्मरन्ति तदा त्वमेव तेषां मङ्गल्यरूपेणाविर्भवसीत्यहोऽतिभक्तवात्सल्यमित्यर्थः । हरपक्षेप्येवं योजनीयम् ॥ २४ ॥

हरिपक्ष में—हे वरद ! आपका स्मरण करने वाले पुरुषों का चरित्र चाहे अमङ्गल भी हो तथापि उनके लिये आप परम मङ्गलरूप ही हैं, तथा च गीता में कहा है कि पुरुष चाहे कितना भी

भारी दुराचारी क्यों न हो यदि अनन्य भक्त होकर मेरा भजन करता है तो भी उसे साधु ही समझना चाहिए क्योंकि वह ठीक व्यवसाय ('प्रपत्ति' अर्थात् 'भगवान् मुझको संसारसागर से अवश्यमेव पार उतारेंगे'—इस प्रकार का विश्वासमात्ररूप दृढ़ निश्चय) से युक्त हो गया है। (श्रीरामजी ने भी कहा है कि 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।' यह मेरा नियम है कि जो पुरुष एक बार भी मेरी शरण में प्राप्त होकर (अर्थात् 'प्रपत्ति' से युक्त होकर) "मैं आपका हूँ !" इस प्रकार प्रार्थना करता है, उसे और ऐसे सब प्राणियों को अभय (मोक्ष=ब्रह्मभाव) देता हूँ। यह 'प्रपत्ति' भक्ति से भी उत्कृष्ट है क्योंकि भक्ति में शारीरिक आदि व्यापार की आवृत्ति है और 'प्रपत्ति' तो पूर्वोक्त विश्वासमात्ररूप है)।

अथवा 'तव नाम स्मर्तॄणाम्' ऐसी योजना करनी चाहिए। नाममात्र का स्मरण करने वाले भक्तों के लिये भी आप परम मङ्गलरूप हैं, और जो लोग आपका ही साक्षात् स्मरण करते हैं उनके विषय में तो कहना ही क्या है ? कैसा नाम है ? जो अखिल है, अर्थात् खिल (निष्फल) नहीं है किन्तु सफल है। अत्यन्त पापी करके प्रसिद्ध अजामिल आदियों को भी पुत्र का नाम (नारायण) होने के कारण तथा मरण की पीड़ा से शिथिल इन्द्रियों के कारण नाममात्र के मन्द उच्चारण करने पर भी सर्वपापक्षयपूर्वक परम पुरुषार्थ की प्राप्ति सुनने में आती है।

'स्मशानेषु' इत्यादि रूपक से भक्तों के अमङ्गलशील का ही वर्णन करते हैं, यह लक्षणामूल अत्यन्त 'तिरस्कृतिवाच्य' ध्वनि है। स्मशान के तुल्य सर्वदा रोदनप्रधान गृहों में थोड़ी क्रीड़ा अर्थात् अल्पकाल विषयजन्य तुच्छ सुख की प्राप्ति, और 'स्मरहर पिशाचाः सहचराः' स्मर नाम स्मरण अर्थात् शास्त्रीय आत्मानात्म-

विवेक को हरण करने वाले, तथा पिशाचों के तुल्य पुत्र भार्य्या आदिरूप पिशाच, जैसे पिशाच अपने आवेश से ज्ञान का लोप करके पुरुष को अनर्थ में लगा देते हैं ऐसे ही पुत्र भार्य्या आदि भी हैं, स्मरहर और पिशाच ही सहचर हैं, स्मरहर और पिशाच रूप पुत्र भार्य्या आदि वस्तुतः वैरी होकर भी साथ ही रहते हैं, त्तण भर भी छोड़ते नहीं हैं अतः वे सहचर हैं। तथा 'चिताभस्मतुल्य आलेपः'—विष्ठा मूत्र राद (पीप) आदि अति निन्दित वस्तुओं से परिपूर्ण इस शरीर का चन्दनादिरूप आलेप भी अतिनिन्दित है। तथा मनुष्य की खोपड़ियों के तुल्य माला है क्योंकि पुष्प-माला भी पिशाचादि के तुल्य पुत्र भार्य्या आदि के विनोद का हेतु होने से मनुष्य की खोपड़ियों की माला के समान ही है। अपि शब्द से विषयसङ्गी पुरुषों के और और चरित्र भी अमङ्गल रूप ही हैं, ऐसे अमङ्गल शील वाले पुरुष भी यदि आपका या आपके नाम का स्मरण करते हैं तो भी आप स्वयं मङ्गलरूप धारण करके उनको दर्शन देते हैं, आपके इस अतिभक्तवात्सल्य (भक्तों पर अतिप्रेम) पर आश्चर्य्य है! शिवपत्त में भी ऐसी ही योजना कर लेनी ॥२४॥

अतीतः पन्थानमित्यत्र हि पदार्थत्रयमुपन्यस्तं, कतिविधगुण इत्यनेन सगुणमैश्वर्यं, कस्य विषय इत्यनेनाद्वितीयं ब्रह्मस्वरूपं, पदे त्वर्वाचीन इत्यनेन लीलाविग्रहविहारादि। तत्र अजन्मानो लोका इत्यत्र सामान्यतः परमेश्वर-सद्भावं दृढीकृत्य, तदैश्वर्यं यत्नादयदुपरीत्यादिना सगुणमैश्वर्यं लीलाविग्रहविहा-रादिकं च वर्णितम्। संप्रत्यद्वितीयं ब्रह्मस्वरूपं वक्तव्यमवशिष्यते। तदनभिधाने पूर्वोक्तस्य सर्वस्यापि तुपकण्डनवत्त्वप्रसङ्गान्निर्गुणब्रह्मस्वरूपस्यैव सर्वश्रुतिस्मृ-तितात्पर्यविषयत्वेन सत्यत्वात्, सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य स्वप्नवन्मिथ्यात्वात्। तस्मान्निर्गुणब्रह्मनिरूपणायोत्तरग्रन्थारम्भः। तत्र पूर्वश्लोके त्वं परमं मङ्गलम-

सीत्युक्तम् । तत्रैवमाशङ्क्यते । मङ्गलं हि सुखम् । न चेश्वरस्य सुखस्वरूपत्व संभवति, सुखस्य जन्यत्वाद्गुणत्वाच्च, ईश्वरस्य नित्यत्वादद्रव्यत्वाच्च । नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नवानीश्वरो न सुखरूपो नापि सुखाश्रय इति तार्किकाः । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरश्चितिरूपो न सुखरूप इति पातञ्जलाः । तदेवं नाद्वितीय ईश्वरो नापि सुखस्वरूप इत्याशङ्क्य तस्याद्वितीयपरमानन्दरूपत्वे विद्वदनुभवरूपं प्रत्यक्षं प्रमाणं वदन्स्तौति—

'अतीत: पन्थानं' इस श्लोक में तीन पदार्थों का उपन्यास किया, 'कतिविधगुण:' इस श्लोक से सगुण ऐश्वर्य्य, 'कस्य विषय:' इस पद्य से अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप, 'पदे त्वर्वाचीने' इस पद्य से लीलाविग्रह का विहार आदि, 'अजन्मानो लोका:' इस श्लोक में सामान्य रूप से परमेश्वर के सद्भाव को दृढ़ करके 'तवैश्वर्य्यं यत्नाद्यदुपरि' इत्यादि से सगुण ऐश्वर्य्य और लीलाविग्रह का विहार आदि का वर्णन किया । अब अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप के विषय में वक्तव्य अवशेष है, यदि उसे न कहेंगे तो सब ग्रन्थ पर तुषकण्डन (भूसी के कूटने) रूप दोष की प्राप्ति होगी, तथा सब श्रुतिस्मृति के तात्पर्य्य का विषय होने से निर्गुण ब्रह्म ही सत्य वस्तु है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च स्वप्न के समान मिथ्या है, अत: निर्गुणब्रह्म के निरूपण के लिये उत्तरग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है । पूर्वश्लोक में 'आप परम मङ्गलस्वरूप हैं' यह कहा है—इस विषय में इस प्रकार आशङ्का होती है कि 'मङ्गल' नाम सुख का है, ईश्वर सुखस्वरूप तो हो नहीं सकता क्योंकि सुख उत्पत्ति तथा विनाश वाला है तथा गुणरूप है और ईश्वर नित्य है तथा द्रव्यरूप है, तार्किकों का कथन है कि 'नित्य ज्ञान इच्छा और प्रयत्न वाला ईश्वर है वह न सुखरूप है न सुख का आश्रय ही है ।' पतञ्जलि मुनि कहते हैं कि 'क्लेश, कर्म, विपाक और आशय के परामर्श (सम्बन्ध) से रहित पुरुषविशेष ईश्वर है, चितिरूप है सुखरूप नहीं है ।' इस

प्रकार ईश्वर न अद्वितीय है और न सुखरूप ही है—ऐसी आशङ्का के समाधान में परमात्मा की अद्वितीयता तथा परमानन्दरूपता के विषय में विद्वानों का अनुभवरूप प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हुए श्री गन्धर्वराज स्तुति करते हैं:—

मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः ।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ॥२५॥

मन इति । हे वरद, यत्किमपि तत्त्वं इदन्तया वक्तुमशक्यं सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मकं वस्त्वालोक्य वेदान्तवाक्यजन्ययाऽखण्डाकारवृत्त्याऽपरोक्षीकृत्य यमिनः शमादिसाधनसंपन्नाः परमहंसाः अन्तराह्लादं बाह्यसुखविलक्षणं निरतिशयसुखं दधति पूर्वं विद्यमानमेव धारयन्ति न तूत्पादयन्ति नित्यत्वात् । तत्तत्त्वं किल भवानिति । किलेति प्रसिद्धौ । सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मकत्वेनैव श्रुतिषु प्रसिद्धो भवान्न तार्किकाद्युक्तप्रकारः । अतस्त्वं कथं परमं मङ्गलं न भवसीति वाक्यशेषः । तत्राह्लादस्य निरतिशयत्वं दर्शयितुं दृष्टान्तमाह । अमृतमये ह्रदे निमज्ज्येव । यस्य खलु लेशमात्रमपि स्पृष्ट्वा सकलसंतापोपशमेन सुखिनो भवन्ति, किमुत वक्तव्यं तस्य निमज्जनरूपसर्वाङ्गसंयोगेनेति कारणातिशयात्कार्यस्याप्यतिशयः सूचितः । यद्यपि ब्रह्मानन्दस्य सर्वातिशयिनो न कोऽपि दृष्टान्तोऽस्ति तथापीषत्साम्येनापि लोकानां बुद्धिदार्ढ्यायैवमुक्तम् । एतादृशब्रह्मानन्दानुभवस्यासाधारणं कारणमाह । मन इत्यादिना । चित्ते हृदयाम्बुजे मनः संकल्पविकल्पात्मकमवधाय निरुध्य । वृत्तिशून्यं कृत्वेत्यर्थः । कीदृशं मनः । प्रत्यक् चक्षुरादीन्द्रियद्वारा बहिर्विषयप्रवृत्तिप्रतिकूलतया अन्तर्मुखतयैवाञ्चतीति प्रत्यक् । कीदृशा यमिनः । सविधं सप्रकारं यथा स्यात्तथा आत्तमरुतः । शास्त्रोपदिष्टमार्गेणैव कृतप्राणायामा इत्यर्थः । अत्र सविधमि-

त्यनेन यमनियमादिसाधनानि सूच्यन्ते । आत्तमरुत इत्यनेन चतुर्थः कुम्भकः । विषयेभ्य इन्द्रियाणां निवर्तनरूपः प्रत्याहारः प्रत्यक्पदेन सूचितः । चित्त इत्यनेन हृदयाम्बुजाख्यदेशसंबन्धात्सम्यगवलम्बनाख्या धारणोक्ता । अवधायेत्यनेन ध्यानसमाधी । तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना—'देशसंबन्धश्चित्तस्य धारणा । तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इति । चित्तस्य वशीकरणार्थं मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धाज्ञाख्यचक्राणामन्यतमे देशेऽवस्थापनं धारणेत्युच्यते । प्रत्ययस्य एकतानता (एकविषयप्रवणता) विषयः प्रवाहः । स च द्विविधः । विच्छिद्यविच्छिद्य जायमानः संततश्चेति । तावुभौ क्रमेण ध्यानसमाधी भवतः । एतेनाष्टाङ्गयोगपरिपाको ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुर्निदिध्यासनरूपत्वेनोक्तः । एवं ब्रह्मानन्दानुभवस्य कारणमुक्त्वा कार्यमाह । प्रहृष्यद्रोमाणः प्रकर्षेण पुलकिताङ्गाः । तथा प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः हर्षाश्रुपूर्णनेत्राः । एतदुभयं च यमिनामानन्दानुभवानुमाने लिङ्गमुक्तम् । अत्र प्रशब्देनोत्सङ्गितशब्देन च लौकिकसुखापेक्षयाऽतिशयविशेषो व्यज्यते । यस्य च तत्त्वस्यालोकनमात्रेणाप्यन्ये परमाह्लादं बिभ्रति, तत्स्वयं परमाह्लादरूपं भवतीति किमु वक्तव्यमित्युक्तम् । 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'एष एव परम आनन्दः' 'यो वै भूमा तत्सुखं' 'कोह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्याद्याः श्रुतयश्चास्मिन्नर्थे प्रमाणत्वेन द्रष्टव्याः । हरिपक्षेऽप्येवम् ॥ २५ ॥

हे वरद ! इदन्ता से ('यह है' इस प्रकार) जिसे कहना अशक्य है उस सत्य ज्ञान अनन्त आनन्दरूप जिस किसी अपूर्व तत्त्व (वस्तु) को वेदान्तवाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति से अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) करके शमदमादिसाधनसम्पन्न यमी (परमहंस) लोग बाह्यसुख से विलक्षण, पहले से ही विद्यमान, निरतिशय आह्लाद (सुख) को अन्तःकरण में धारण करते हैं, वह तत्त्व आप ही हैं । वह सुख नित्य होने के कारण उत्पादन करने योग्य नहीं है अतः 'धारण करना' ही कहा गया है । 'वह तत्त्व श्रुति में सत्य ज्ञान

अनन्त आनन्द रूप से ही प्रसिद्ध है' यह 'किल' शब्द का अभिप्राय है, तार्किक आदियों से कहे गये प्रकार वाला नहीं है, अतः आप परम मङ्गलरूप क्यों नहीं हैं? किन्तु अवश्य ही परम मङ्गल हैं—यह वाक्यशेष है।

आह्लाद की निरतिशयता को दिखाने के लिये दृष्टान्त कहते हैं 'अमृतमये ह्रदे निमज्येव' अमृतमय तालाब में डुबकी लगानेसे जैसा परम आह्लाद (आनन्द) होता है उसीके समान जो आह्लाद है। जिस सुख के लेशमात्र का भी स्पर्श करके पुरुष सकल सन्ताप की शान्तिपूर्वक सुखी होते हैं, उसके निमज्जन (डूबने) रूप सर्वाङ्ग-संयोग से जो आनन्द होता है उसका तो कहना ही क्या है! इस रीति से कारण की अधिकता से कार्य की अधिकता सूचन की गई है। यद्यपि उत्कृष्ट ब्रह्मानन्द का कोई दृष्टान्त नहीं है तथापि थोड़े से सादृश्य से भी लोगों की बुद्धि की दृढ़ता के लिये ऐसा कहा गया है। इस ब्रह्मानन्द के अनुभव के असाधारण कारण को कहते हैं 'मनः' इत्यादि, चित्त (हृदयकमल) में संकल्पविकल्पात्मक मन को निरुद्ध (वृत्तिशून्य) करके, कैसा मन है? जो प्रत्यक है अर्थात् चक्षुःआदि इन्द्रिय द्वारा बाह्य विषयों में प्रवृत्त न होकर अन्तर्मुख ही रहता है। कैसे यमी हैं? कि जिन्होंने शास्त्रोपदिष्टमार्ग से विधिपूर्वक प्राणायाम किया है, यहां 'सविधम्' पद से यम नियम आदि साधन सूचन किये गये हैं, 'आत्तमरुतः' पद से चौथा 'कुम्भक' प्राणायाम कहा गया है, विषयों से इन्द्रियों का निवर्त्तनरूप प्रत्याहार प्रत्यक् पद से सूचन किया गया है, 'चित्ते' पद से हृदयकमल नाम के देश में सम्बन्धरूप धारणा कही गई है, 'अवधाय' पद से ध्यान और समाधि कहे गये हैं। भगवान् पतञ्जलि ने कहा है, '१—देशसम्बन्धश्चित्तस्य धारणा, २—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्, ३—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव

समाधिः इति' १—चित्त के वशीकरण के लिये मूल, आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा—नामक चक्रों में से किसी एक चक्ररूप देश में मन के स्थिर करने को धारणा कहते हैं, २—प्रत्यय का एक ही विषय में प्रवाह 'ध्यान' कहलाता है, ३—वह विषयप्रवाह दो प्रकार का है, एक तो टूट टूट कर होने वाला और दूसरा सन्तत अर्थात् निरन्तर रहने वाला, वे दोनों क्रम से 'ध्यान' और 'समाधि' कहाते हैं, इन सब से ब्रह्मसाक्षात्कार का हेतु अष्टाङ्गयोग का परिपाकरूप 'निदिध्यासन' कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्मानन्दानुभव का कारण कह कर 'कार्य्य' कहते हैं—'प्रहृष्यद्रोमाणः'। वे यमी लोग अमृतमय ह्रद में डूब कर अत्यन्त पुलकिताङ्ग (हर्ष के कारण रोमाञ्चयुक्त शरीर वाले) तथा 'प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृक' हर्ष के अश्रुओं से पूर्णनेत्रों वाले हो जाते हैं, यह दोनों यमियों के आनन्दानुभव के विषय में अनुमान के लिङ्ग (चिन्ह) कहे गये, यहाँ 'प्र' शब्द से और 'उत्सङ्गित' शब्द से लौकिक सुख की अपेक्षा से 'अतिशयविशेष' व्यक्त (व्यञ्जनावृत्ति से बोधन) किया गया है, जिस तत्त्व के अवलोकनमात्र से दूसरे पुरुष परम आनन्द को प्राप्त होते हैं। 'वह स्वयं परम आह्लादरूप है'—इस का तो कहना ही क्या है! "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्मेतिव्यजानात्, एष एव परम आनन्दः, यो वै भूमा तत्सुखं, को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।" इत्यादि श्रुतियां भी इस आनन्द के विषय में प्रमाणरूप से जाननी चाहिएं। हरिपक्ष में भी ऐसा ही अर्थ है ॥ २५ ॥

एवमद्वितीये ब्रह्मणि परमानन्दरूपे सर्वात्मके विद्वदनुभवरूपं प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तम्। अधुना तस्यैवाद्वितीयत्वं तर्केणापि साधयन्स्तौति—

इस प्रकार अद्वितीय परमानन्दरूप सर्वात्मक ब्रह्म के विषय में विद्वान् का अनुभवरूप प्रत्यक्ष प्रमाण कहा, और उसी ब्रह्म के अद्वितीयत्व को तर्क से भी सिद्ध करते हुए गन्धर्वराज स्तुति करते हैं:—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योमत्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥२६॥

त्वमर्क इति । हे वरद, परिणताः परिपक्वबुद्धयस्त्वयि विषये एवंपरिच्छिन्नामेवंप्रकारेण परिच्छिन्नत्वेन त्वां प्रतिपादयन्तीं गिरं वाचं बिभ्रतु धारयन्तु नाम । केन रूपेण परिच्छिन्नमित्यत आह । त्वमर्क इत्यादिना । अत्र सर्वत्र त्वंशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । उशब्दोऽवधारणे त्वमित्यनेन संबध्यते । चशब्दः समुच्चये । इतिशब्दः समाप्तौ । अर्कादयः प्रसिद्धाः । आत्मा क्षेत्रज्ञो यजमानरूपः । एते चाष्टौ श्रीरुद्रमूर्तित्वेनागमप्रसिद्धा वक्ष्यमाणभवादिनामाष्टकसहिताश्चतुर्थ्यन्ता नमोन्ता अष्टौ मन्त्रा भवन्ति ते गुरूपदेशेन ज्ञातव्याः । एतदष्टमूर्तित्वं चान्यत्राप्युक्तम्—'क्षितिहुतवहक्षेत्रज्ञाम्भःप्रभञ्जनचन्द्रमस्तपनवियदित्यष्टौ मूर्तीर्नमो भव बिभ्रते' इति । तेन सर्वात्मकमपि त्वामर्काद्यष्टमात्रमूर्तिं वदन्तीत्यर्थः । अत्रापरिणता इत्यस्मिन्नर्थे परिणता इति सोपहासं बिभ्रत्विति लोटाननुमतावप्यनुमतिप्रकाशनात् । तेन सर्वथानुचितमेवैतदित्यर्थः । तर्हि किमुचितं ज्ञात्वा त्वयेदमनुचितमुच्यत इत्यत आह। नेत्यादिना हि यस्मात् इह जगति तत्तत्त्वं वस्तु वयं न जानीमो यद्वस्तु त्वं न भवसि । त्वद्भिन्नमिति यावत् । अत्र स्वस्य प्रमाणकौशलेनोत्कर्षं ख्यापयितुं विद्म इति बहुवचनम् । वयं तु त्वदभिन्नत्वेनैव युक्त्या सर्वं जानीम इत्यर्थः । एवं च तव सर्वात्मकत्वादर्कादिविशेषरूपाभिधानं व्यर्थमेव । तथा च श्रुतिः—'इन्द्रं

मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' 'एष उ ह्येव सर्वे देवाः' इति च सर्वदेवभेदं गमयति । नहि सदतिरिक्तं किंचिदुपलभ्यते सद्रूपश्चात्मा त्वमेवेति तर्केणापि सिद्धमद्वैतम् । नच सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वे घटविज्ञानस्यापि ब्रह्मज्ञानस्वरूपत्वात्त-तोऽपि मोक्षप्रसङ्ग इति वाच्यम् । अन्यानुपरक्तचैतन्यभावस्यैव मोक्षहेतुत्वात् । घटाद्याकारज्ञानस्य चाविद्यापरिकल्पितान्योपरक्तचैतन्यविषयत्वात् । अन्योप-रक्तचैतन्यस्य च सद्रूपेण चक्षुरादिविषयत्वेऽप्यन्यानुपरक्तस्यैतस्य न वेदान्त-वाक्यमात्रविषयत्वव्याघातः । ननु सर्वस्य सन्मात्रत्वेऽपि नाद्वैतसिद्धिः । भिन्नानामपि सत्ताजातियोगेन सदाकारबुद्धिविषयत्वसंभवात् । अन्यथा द्रव्य-गुणकर्मादिभेदव्यवहारोऽपि न स्यादिति चेन्न । द्रव्यं सद्गुणः सन्नित्यादिप्रती-तेर्द्रव्यत्वादिधर्मविशिष्टैकसन्मात्रविषयत्वमेव न तु द्रव्यादिधर्मिषु भिन्नेषु सत्ता-ख्यधर्मविषयत्वम्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वात् । एकस्मिन्नेवसति च सर्वाभिन्ने मायिकनानात्वप्रतीत्युपपत्तेः । द्वौ चन्द्रावित्यत्रेव न पारमार्थिक-भेदकल्पनावकाशः । तथाचायं प्रयोगः । अयं द्रव्यगुणादिभेदव्यवहारः सर्वभे-दानुगतजात्यात्मकैकवस्तुमात्रावलम्बनः । भेदव्यवहारत्वाद्द्विचन्द्रभेदव्यवहार-वदिति । तस्मान्नाचेतनं सचेतनं वा किंचिदपि परमात्मनो भिन्नमुपपद्यते । 'स एष इह प्रविष्टः' 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादिश्रुत्या प्रवेष्टुरविकृतस्यैव जीवरूपेण प्रवेशप्रतिपादनात् । तथा 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मैकोद्भवत्वब्रह्मसामान्यब्रह्मैकप्रलयत्वादिहेतुभिरू-र्णनाभ्यादिदृष्टान्तेनाकाशादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनात् 'सदेव सोम्ये-दमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति च कण्ठत एवाद्वितीयत्वोक्तेः । एवं च सदाकारप्रत्यक्षमभेदव्यवहारत्वलिङ्गं सार्वात्म्यश्रुत्यन्यथानुपपत्तिश्चेति प्रमाण-त्रयमुक्तम् । विस्तरेण चात्र युक्तयो वेदान्तकल्पलतिकायामनुसंधेयाः । तस्मान्न विद्म इत्यादिना साक्षेवोक्तमद्वितीयत्वम् ।

हे वरद ! परिपक्वबुद्धि वाले पुरुष आप के विषय में इस प्रकार की परिच्छिन्न (परिमित रूप से आपको प्रतिपादन करने वाली)

वाणी भले ही धारण करें ! वह परिच्छिन्न वाणी किस प्रकार की है ? इसके उत्तर में कहते हैं 'त्वमर्कः' इत्यादि । तू सूर्य्य है, तू चन्द्र है, तू पवन है, तू अग्नि है, तू जल है, तूआकाश है, तू ही पृथिवी है, और तू आत्मा (यजमानरूप क्षेत्रज्ञ) है । यहाँ सर्वत्र 'तू' शब्द वाक्यालङ्कार के लिये है, 'उ' शब्द अवधारण (नियम) अर्थ में है, 'च' शब्द समुच्चय (और) अर्थ में है, 'इति' शब्द समाप्ति का प्रकाशक है । ये आठों ही श्रीरुद्र की मूर्तिरूप से शास्त्र में प्रसिद्ध हैं. आगे कहे गये 'भव' आदि आठ नामों के साथ इनका चतुर्थ्यन्त तथा 'नमः' शब्द अन्त में रख कर उच्चारण करने से आठ मन्त्र बनते हैं, उन मन्त्रों को गुरु के उपदेश से जानना चाहिए । ये आठ मूर्तियाँ अन्यत्र भी कही गई हैं । पृथिवी, अग्नि, क्षेत्रज्ञ, जल, वायु, चन्द्रमा, सूर्य्य और आकाश—इन आठ मूर्तियों को धारण करने वाले आपके प्रति हे भव ! नमस्कार है । अर्थात् आप सर्वात्मक हैं तथापि आपको 'अष्टमूर्ति' कहते हैं । यहाँ 'अपरिणताः' (अपरिपक्व बुद्धि वाले) अर्थ में 'परिणताः' (परिपक्व बुद्धि वाले) शब्द 'बिभ्रतु' इस लोट् से अनुमति के न होते हुए भी अनुमति का प्रकाशन करने से उपहास के लिये है, अतः यह सर्वथा अनुचित ही है—यह अभिप्राय है । तब आप क्या उचित समझ कर इसे अनुचित कहते हैं ? इसके समाधान में कहते हैं 'नेत्यादि' । यतः इस जगत् में उस वस्तु को हम नहीं जानते कि जो वस्तु आप नहीं है (अर्थात् आप से भिन्न है) । यहाँ अपने विषय में प्रमाणकौशलप्रयुक्त उत्कर्ष कहने के लिये 'विद्मः' यह बहुवचन है, अर्थात् हम तो 'यह सर्व जगत् आप से अभिन्न ही है' ऐसा ही युक्ति से जानते हैं । इस प्रकार आपके सर्वात्मक होने से सूर्य्यादि विशेषरूप का कथन व्यर्थ ही है—इसी प्रकार श्रुति में कहा है कि "श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग एक आत्मा को ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य और

सुन्दर पक्षों वाले गरुड़, अग्न्यभिमानिनी देवता, यम, मातरिश्वा इत्यादि नामों से बहुत प्रकार का बताते हैं। यह परमात्मा ही सर्व देवरूप है।" यह दोनों श्रुतियाँ सर्व देवताओं के भेद को वारण करती हैं, क्योंकि 'सत्' से भिन्न किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है और सद्रूप आत्मा तू ही है—इस प्रकार तर्क से भी अद्वैत सिद्ध होता है। (शङ्का) सर्व वस्तु के ब्रह्मरूप होने से घटादिज्ञान के ब्रह्मज्ञानस्वरूप होने के कारण घटादिज्ञान से भी मोक्ष का प्रसङ्ग होगा! (समाधान) नहीं, अन्य के उपराग (सम्बन्ध) से रहित चैतन्यभाव ही मोक्ष का हेतु है, घट पट आदि ज्ञान तो अविद्या से कल्पित अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध से युक्त चैतन्य का विषय है, और अन्य वस्तु के सम्बन्ध से युक्त चैतन्य सद्रूप से यद्यपि चक्षुः आदि का विषय है तथापि अन्य वस्तु से अनुपरक्त (असम्बद्ध) शुद्ध चित् को वेदान्तवाक्यमात्र का विषय मानने में व्याघात (विरोध) नहीं है। (शङ्का) यद्यपि सर्व वस्तुएँ सन्मात्ररूप भी हैं तथापि अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सत्ता जाति के सम्बन्ध से भिन्न भिन्न वस्तुएँ भी सदाकार बुद्धि का विषय हो सकती हैं, अन्यथा द्रव्य गुण कर्मादि में भेदव्यवहार भी नहीं हो सकेगा, (समाधान) ऐसा नहीं है, 'द्रव्यं सत्' (द्रव्य है) 'गुणः सन्' (गुण है) इत्यादि प्रतीति का द्रव्यत्वादिधर्मविशिष्ट एक सन्मात्र ही विषय है, भिन्न भिन्न द्रव्यादि धर्मी में सत्तानामक धर्म विषय नहीं है, क्योंकि धर्मी की कल्पना की अपेक्षा से धर्म की कल्पना लघु है, "जैसे दो चाँद हैं" इस प्रतीति में दो चाँदों की कल्पना न करके लोकप्रसिद्ध एक चाँद में 'द्वित्व' धर्म की ही कल्पना की जाती है, तथा च यह न्यायप्रयोग हुआ, 'यह द्रव्यगुण आदि भेदव्यवहार' 'सर्वभेदानुगतजात्यात्मक एक वस्तुमात्रविषयक है', भेदव्यवहार होने से, द्विचन्द्रभेदव्यवहार के समान।

अर्थात् 'जैसे दो चाँद हैं' इत्यादि भेदव्यवहार का विषय, एक अनुगत चाँद रूप वस्तुमात्र है ऐसे ही 'द्रव्य है, गुण है' इत्यादि भेदव्यवहार का विषय भी द्रव्यगुण आदि में अनुगत जातिरूप एक सद्रूप वस्तुमात्र है, इस अनुमान में 'जाति' पद का अर्थ नैयायिकादि प्रसिद्ध सामान्य नहीं है किन्तु अनुगत व्यवहार का प्रयोजक जातिस्थानीय पदार्थमात्र ही यहाँ जाति पद का अर्थ है, इसलिये अचेतन या सचेतन कोई पदार्थ भी परमात्मा से भिन्न नहीं है। 'सएष इह प्रविष्टः' (वही इस शरीर में प्रवेश किये हुए हैं), 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (इस परमात्मा ने ही जीवात्मरूप से इस देह में प्रवेश करके नाम और रूप का व्याकरण किया है ।) इत्यादि श्रुति से विकार से रहित परमात्मा का ही जीवरूप से प्रवेश प्रतिपादन किया गया है। तथा 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सर्व जगत् आत्मरूप है) इत्यादि श्रुति से तथा ब्रह्मैकोद्भवत्व, ब्रह्मसामान्य, ब्रह्मैकप्रलयत्व (ब्रह्म से ही उत्पत्ति के कारण, सद्रूप ब्रह्म सामान्य हेतु से, ब्रह्म में ही लय होने के कारण) आदि हेतुओं से ऊर्णनाभि (मकड़ी) आदि दृष्टान्तों से आकाशादि प्रपञ्च का एक ब्रह्मरूप होना प्रतिपादन किया गया है। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सोम्य! यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व एक अद्वितीय सद् (ब्रह्म) रूप ही था) यह श्रुति तो कण्ठ से ही अद्वैत को स्पष्ट कह रही है—इस प्रकार सदाकार प्रत्यक्ष, अभेदव्यवहारस्वरूप लिङ्ग (अनुमान), सार्वात्म्यश्रुत्यन्यथानुपपत्ति, यह तीन प्रमाण परमात्मा के सर्वरूप होने के विषय में कथन किये गये हैं। इस विषय में विस्तारपूर्वक युक्तियों को 'वेदान्तकल्पलतिका' में अनुसन्धान करें। अतः 'हम ऐसी कोई वस्तु नहीं जानते हैं जो कि आपसे भिन्न हो' इत्यादि से अद्वैत का कथन साधु ही है।

हरिपक्षे तु । अर्कादिशब्देन तत्तदवच्छिन्ना देवतात्मान उच्यन्ते । 'य एवासावादित्ये पुरुष एतदेवाहं ब्रह्मोपासे' इत्यादिनाऽजातशत्रवे दृप्तबालाकिनोपदिष्टाः बृहदारण्यके कौषीतकीब्राह्मणे च प्रसिद्धाः । परिच्छिन्नत्वादिदोषेणाब्रह्मत्वं चैषां तत्रैवाजातशत्रुणा प्रतिपादितम् । सहोवाचाजातशत्रुरेतावन्नू इत्येतावद्धृत्तिनैतावता तावद्विदितं भवति' इत्यादिना । अन्यत्सर्वं समानम्॥ २६॥

हरिपक्ष में—अर्कादि शब्दों से तत्तदवच्छिन्न (सूर्य्याद्युपहित ब्रह्म) देवतात्मा का ग्रहण करना । 'य एवासावादित्ये पुरुष एतदेवाहं ब्रह्मोपासे' (यह जो सूर्य्यमण्डल में पुरुष है उसकी ही ब्रह्मरूप से मैं उपासना करता हूँ) इत्यादि से दृप्तबालाकि से अजातशत्रु के प्रति उपदेश किया गया ब्रह्म बृहदारण्यक और कौषीतकिब्राह्मण में प्रसिद्ध है। और "परिच्छिन्नत्व आदि दोष होने के कारण यह ब्रह्मरूप नहीं है"—इत्यादि अजातशत्रु ने "सहोवाचाजातशत्रुरेतावन्नूनइत्येतावद्धृत्तिनैतावता तावद्विदितं भवति" (अजातशत्रु बोले, कि क्या इतना ही ब्रह्म तुम जानते हो ? इतना जानने से तो ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता) इत्यादि श्रुति से प्रतिपादन किया गया है, अन्य सब पूर्व के समान है ॥ २६ ॥

एवं प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिभिरद्वितीयत्वं परमेश्वरस्य सर्वात्मकत्वेन प्रसाध्य तदेवागमेनापि साधयन्स्तौति—अथवा क्रमेण पूर्वश्लोकद्वये त्वंपदार्थं तत्पदार्थं च परिशोध्यानेन श्लोकेनाखण्डं वाक्यार्थं वदन्स्तौति—

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाण से सर्वात्मकत्व हेतु द्वारा परमेश्वर के अद्वितीयत्व को सिद्ध करके अब आगम (शास्त्र) से भी उसे सिद्ध करते हुए गन्धर्वराज परमात्मा की स्तुति करते हैं । अथवा क्रम से पूर्व के दो श्लोकों में त्वंपदार्थ और तत्पदार्थ का परिशोधन करके इस श्लोक से अखण्ड वाक्यार्थ का कथन करते हुए यक्षराज स्तुति करते हैं:—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥२७॥

त्रयीमिति । हे शरणद आर्तभयप्रद, ओमिति पदं त्वां सर्वात्मानमद्वितीयं गृणाति अवयवशक्त्या समुदायशक्त्या च प्रतिपादयति । अतएवोंकारस्यावयवशक्त्या वाक्यत्वेऽपि समुदायशक्त्या पङ्कजादेरिव पदत्वमुपपन्नं योगरूढिस्वीकारात् । तदस्वीकारेऽपि 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति वैयाकरणपरिभाषया पदत्वं 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन समासस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञाविधानात्सुबन्तत्वमुपपन्नमेव । कीदृशमोमिति पदम् । समस्तं अकारोकारमकाराख्यपदत्रयकर्मधारयसमासनिष्पन्नम् । एतेन समुदायशक्तिरुक्ता । तथा व्यस्तं भिन्नम् । अकार–उकार–मकाराख्यस्वतन्त्रपदत्रयात्मकमित्यर्थः । एतेनावयवशक्तिरुक्ता । इदं च पदद्वयमभिधेयेऽपि योज्यम् । त्वां कीदृशम् । समस्तं सर्वात्मकं, तथा व्यस्तमध्यात्माधिदैवादिभेदेन भिन्नतया प्रतीयमानम् । तथाच व्यस्तमोमिति पदं व्यस्तं त्वां गृणाति, समस्तमोमिति पदं समस्तं त्वां गृणातीत्युक्तं भवति । एतदेव दर्शयति—त्रयीमित्यादिना । त्रयीं वेदत्रयं, तिस्रो वृत्तयो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या अन्तःकरणस्यावस्थाः । एतच्च विश्वतैजसप्राज्ञानामप्युपलक्षणम् । त्रिभुवनं भूर्भुवःस्वः । एतदपि विराड्ढिरण्यगर्भाव्याकृतानामुपलक्षणम् । त्रयः सुराः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । एतच्च सृष्टिस्थितिप्रलयानामप्युपलक्षणम् । एतच्च सर्वमकाराद्यैस्त्रिभिर्वर्णैरभिदधदभिधावृत्त्या प्रतिपादयद्व्यस्तमित्यर्थः । एवमत्र प्रकारः । ऋग्वेदो जाग्रदवस्था भूर्लोको ब्रह्मा चेति चतुष्टयमकारार्थः । तथा यजुर्वेदः स्वप्नावस्था भुवर्लोको विष्णुश्चेति चतुष्टयमुकारार्थः । तथा सामवेदः सुषुप्त्यवस्था स्वर्लोको महेश्वरश्चेति चतुष्टयं मकारार्थः । इदं माण्डूक्यनृसिंहतापनीयाथर्वशिखादावन्यदप्युक्तं गुरूपदेशाज्ज्ञातव्यम् । अतिरहस्यत्वान्नेह सविशेषमुच्यते । तस्मादध्यात्माधिदैवाधिभूताधिवेदाधियज्ञा-

दियावदन्यत्रोक्तमस्ति तत्सर्वमत्रोपसंहर्तव्यं न्यूनतापरिहाराय। तथाच सर्वप्रपञ्चाकारेण व्यस्तं त्वां अकारोकारमकारैर्व्यस्तमोमिति पदमभिदधत्त्वां गृणातीति संबन्धः।

हे शरणद ! (दुःखियों को अभयप्रदान करने वाले !) यह 'ओम्' पद सर्वात्मक तथा अद्वितीयस्वरूप आपको ही अवयवशक्ति और समुदायशक्ति से प्रतिपादन करता है, अतएव ओङ्कार अवयवशक्ति से यद्यपि 'वाक्य' है तथापि समुदायशक्ति से 'पङ्कज' आदि शब्द के समान योगरूढ़ि का स्वीकार करके 'पद' भी है। योगरूढि वृत्ति को न भी स्वीकार करें तो भी 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस वैयाकरणपरिभाषा से 'पदत्व' और 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इस सूत्र से समास की भी प्रातिपदिकसंज्ञा का विधान होने से 'सुबन्तत्व' उपपन्न ही है। (प्रश्न) यह 'ओम्' पद कैसा है ? (उत्तर) समस्त अर्थात् अकार-उकार—मकारनामक तीन पदों के कर्मधारयसमास से निष्पन्न (इससे 'समुदायशक्ति' कही गई), और व्यस्त (भिन्न अर्थात् अकार—उकार—मकार नामक स्वतन्त्र तीन पदस्वरूप है (इस से अवयवशक्ति कही गई), इन दोनों पदों की अभिधेय (अर्थ) में भी योजना करनी चाहिए, जैसे—"(प्रश्न) आप कैसे हैं ? (उत्तर) समस्त (सर्वात्मक) और व्यस्त (अध्यात्म अधिदैव आदि भेद से भिन्न रूप से प्रतीयमान) हैं, तथा च व्यस्त 'ओम्' पद आप को व्यस्तरूप से प्रतिपादन करता है और समस्त 'ओम्' पद आपको समस्तरूप कथन करता है।" इसी अर्थ को 'त्रयीम्' इत्यादि से दिखाते हैं—तीन वेद, जाग्रत्—स्वप्न—सुषुप्ति नामक अन्तःकरण की तीन वृत्तियां=अवस्थाएँ (यह विश्व—तैजस—प्राज्ञ का भी उपलक्षण हैं), भूः (भूमिलोक)—भुवः (अन्तरिक्षलोक)—स्वः (स्वर्गलोक) नामक तीनों भुवन (यह विराट्—हिरण्यगर्भ-अव्याकृत का उपलक्षण हैं), ब्रह्मा—विष्णु—महेश तीनो देव (यह

सृष्टि—स्थिति—प्रलय का भी उपलक्षण हैं), इन सब को अकार आदि तीनों वर्णों से 'अभिधा' वृत्ति से कथन करता हुआ 'ओम्' पद 'व्यस्त' है, यहां ऐसी प्रक्रिया है ।

ऋग्वेद, जाग्रदवस्था, भूलोक और ब्रह्मा—यह चारों अकार के अर्थ हैं, तथा यजुर्वेद, स्वप्नावस्था, भुव—लोक और विष्णु—ये चारों उकार के अर्थ हैं, एवं सामवेद, सुषुप्त्यवस्था, स्व—र्लोक और महेश्वर—ये चारों मकार के अर्थ हैं। यह बात माण्डूक्य, नृसिंहतापनीय, अथर्वशिखा आदि में कही गयी है, और और भी इस विषय में गुरूपदेश द्वारा जानना चाहिए, अतिरहस्य होने के कारण यहां विशेष रूप से नहीं कहते हैं, इसलिये अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत, अधिवेद, अधियज्ञ आदि जितना अन्यत्र उपदेश किया गया है उस सब को न्यूनता के परिहार के लिये यहां समझ लेना चाहिएं, तथा च अकार—उकार—मकार से 'व्यस्त ओम्—पद' सर्व प्रपञ्च रूप से आपके व्यस्त (पञ्चीकृत या पृथक् पृथक्) स्वरूप को वर्णन करता है ।

तथा तीर्णविकृति सर्वविकारातीतं तुरीयं अवस्थात्रयाभिमानिविलक्षणं तव धाम स्वरूपं अखण्डचैतन्यात्मकम् । तवेति राहोः शिर इतिवद्भेदोपचारेण षष्ठी । अणुभिर्ध्वनिभिरवरुन्धानं स्वत उच्चारयितुमशक्यैरर्धमात्रायाः प्लुतोच्चारणवशेन निष्पाद्यमानैः सूक्ष्मशब्दैरवबोधं कुर्वत्प्रापयत् । समुदायशक्त्या बोधयदिति यावत् । अर्धमात्राया एकत्वेऽपि ध्वनिभिरिति बहुवचनं प्लुतोच्चारणे चिरकालमनुवृत्तायास्तस्या अनेकध्वनिरूपत्वान्न विरुद्धम् । ध्वनीनां चाणुत्वाणुतरत्वाणुतमत्वादिकं गुरूपदेशादधिगन्तव्यम् । तथाचार्धमात्रारूपेण समस्तमोमिति पदं समुदायशक्त्या सर्वविकारातीतं तुरीयं स्वरूपमभिदधत् समस्तं त्वां गृणातीति संबन्धः । एवं च पदार्थाभिधानमुखेनाखण्डवाक्यार्थसिद्धिरर्थादुक्ता । तथाहि स्थूलप्रपञ्चोपहितचैतन्यमकारार्थः, तत्र स्थूलप्रपञ्चांशत्यागेन केवलचैतन्यमकारेण लक्ष्यते । तथा सूक्ष्मप्रपञ्चोपहितचैतन्यमुका-

रार्थः, तत्र सूक्ष्मप्रपञ्चांशत्यागेनोकारेणोपलक्ष्यते । तथा स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चद्वय-कारणीभूतमायोपहितचैतन्यं मकारार्थः, तादृशमायांशपरित्यागेन मकारेण चैतन्यमात्रं लक्ष्यते । एवं तुरीयत्वसर्वानुगतत्वोपहितचैतन्यमर्धमात्रार्थः, तदु-पाधिपरित्यागेनार्धमात्रया चैतन्यमात्रं लक्ष्यते । एवं चतुर्णां सामानाधिक-रण्यादभेदबोधे परिपूर्णमद्वितीयचैतन्यमात्रमेव सर्वद्वैतोपमर्देन सिद्धं भवति । लक्षणया परित्यक्तानां चोपाधीनां मायातत्कार्यत्वेन मिथ्यात्वात्, स्वरूपबोधेन च स्वरूपाज्ञानात्मकमायातत्कार्यनिवृत्तेर्न पृथगवस्थानप्रसङ्गः । नह्यधिष्ठान-साक्षात्कारानन्तरमापतदध्यस्तमुपलभ्यते त्र्यादीनां वाक्यार्थबोधानुपयोगे-प्युपासनायामुपयोगात्पृथगभिधानं द्रष्टव्यम् । तस्मात्सर्वं द्वितीयशून्यं प्रत्यग-भिन्नं ब्रह्म प्रणववाक्यार्थं इति सिद्धम् । एतच्च सर्वेषां तत्त्वमस्यादिमहावाक्या-नामुपलक्षणम् । तेषामपि प्रत्यगभिन्नपरिपूर्णाद्वितीयब्रह्मप्रतिपादकत्वात् । यथा च शब्दादपरोक्षनिर्विकल्पकबोधोत्पत्तिस्तथा प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्त-कल्पलतिकायामित्युपरम्यते । हरिपक्षेप्येवम् ॥ २७ ॥

तथा सर्वविकारों से रहित जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं के अभिमानि जीवों से विलक्षण तुरीय अखण्ड चैतन्य स्वरूप आपके धाम (स्वरूप) को यह समस्त 'ओम्'—पद प्लुतोच्चारण के कारण उत्पन्न हुए सूक्ष्म शब्दों से समुदायशक्ति से बोधन करता है, 'आप के स्वरूप को'—यहां 'आपके' यह षष्ठी 'राहु का सिर' इस षष्ठी के समान भेद के उपचार से है। यद्यपि अर्धमात्रा एक ही है तथापि 'ध्वनिभिः' (शब्दों से) यह बहुवचन प्लुत उच्चारण में चिरकाल तक उस अर्धमात्रा की अनुवृत्ति के कारण अनेक ध्वनिरूप हो जाने से विरुद्ध नहीं है। ध्वनियां की सूक्ष्मता, सूक्ष्मतरता और सूक्ष्म-तमता गुरूपदेश द्वारा जाननी चाहिए। तथा च अर्धमात्रारूप से यह समस्त 'ओम्'—पद समुदायशक्ति से सर्व विकारों से रहित तुरीयस्वरूप को कहता हुआ समस्तरूप से आपको कथन करता है, इस प्रकार पदार्थ के अभिधान द्वारा अखण्ड वाक्यार्थ की सिद्धि

अर्थात् (अर्थापत्ति से) कह गई। तथाहि, स्थूलप्रपञ्च से उपहित चैतन्य अकार का अर्थ है, उसमें से स्थूलप्रपञ्चांश का त्याग करके केवल चैतन्य अकार का लक्ष्य अर्थ है। तथा सूक्ष्मप्रपञ्च से उपहित चैतन्य उकार का अर्थ है, उसमें से सूक्ष्मप्रपञ्चांश को छोड़ कर शुद्ध चैतन्य उकार का लक्ष्य अर्थ है तथा स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चद्वय की कारण माया से उपहित चैतन्य मकार का अर्थ है, उस मायांश को पृथक् करके चैतन्यमात्र मकार का लक्ष्य अर्थ है। इसी प्रकार तुरीयत्व सर्वानुगतत्व से उपहित चैतन्य अर्धमात्रा का अर्थ है, उस मायारूप उपाधिका परित्याग करके चैतन्यमात्र अर्धमात्रा का लक्ष्य अर्थ है। इस प्रकार चारों वर्णों के सामानाधिकरण्य से अभेदबोध द्वारा परिपूर्ण अद्वितीय चैतन्यमात्र ही सर्वद्वैत का उपमर्दन कर के सिद्ध होता है, क्योंकि लक्षणा से परित्याग की गई उपाधियाँ माया और माया का कार्य्य होने के कारण मिथ्या हैं, स्वरूप का ज्ञान हो जाने से स्वरूपाज्ञान—रूपमाया और उसके कार्य्य की निवृत्ति हो जाने से उनकी पृथक् विद्यमानता नहीं रह सकती, क्योंकि अधिष्ठान के साक्षात्कार के अनन्तर उसमें अध्यस्त वस्तु की कभी भी उपलब्धि नहीं होती है। त्रयी आदि का वाक्यार्थ-बोध में यद्यपि कुछ भी उपयोग नहीं है तथापि उपासना में उपयोग होने से उन्हें पृथक् कहा गया है, अतः द्वितीय से शून्य प्रत्यक् से अभिन्न सर्वरूप ब्रह्म प्रणववाक्य का अर्थ है–यह सिद्ध हुआ। यह 'तत्त्वमसि' आदि सर्व महावाक्यों का उपलक्षण है, क्योंकि वे भी प्रत्यक् से अभिन्न परिपूर्ण अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादक हैं। शब्द से जिस प्रकार अपरोक्ष निर्विकल्पक बोध की उत्पत्ति होती है वह प्रकार 'वेदान्त कल्पलतिका' में विस्तार से कहा गया है अतः यहां उपराम करते हैं। हरिपक्ष में भी ऐसे ही अर्थ समझना चाहिए॥२७॥

एवं तावदद्वितीयब्रह्मवाचकत्वेन प्रणव उपन्यस्तः एतस्य चार्थानुसंधानं जपश्च समाधिसाधनत्वेन पतञ्जलिना सूत्रितः 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इति । 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इति सुत्रान्तरं 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इति सूत्राभ्यां प्रणवजपस्य प्रणिधानशब्दार्थत्वेन व्याख्यानात् । श्रुतौ च 'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।' इत्यादिना तस्य सर्वमर्थहेतुत्वमुक्तम् । एतस्य चातिदुरूहार्थत्वेन स्त्रीशूद्राद्यनर्हत्वेन चासाधारणत्वात्सर्वसाधारणानि प्रसिद्धानि भगवद्वाचकानि पदानि जपार्थत्वेन वदन् स्तौति—

इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्म के वाचक प्रणव का वर्णन किया, इसके अर्थ का बार बार चिन्तन और इस का जप समाधि का साधन है, यह बात श्री पतञ्जलि मुनि ने "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इन दो सूत्रों से कही है, और "तस्य वाचकः प्रणवः" । "तज्जपस्तदर्थभावनम्" इन दो सूत्रों से 'प्रणिधान' शब्द का अर्थ 'प्रणव जप' है—ऐसा व्याख्यान किया गया है, और श्रुति में भी "यह श्रेष्ठ आलम्बन (साधन या आश्रय) है, यह पर (सर्वोत्कृष्ट) आलम्बन है, इस आलम्बन को जान कर जो पुरुष जिस वस्तु की इच्छा करता है वह वस्तु उसको प्राप्त होती है" इत्यादि से प्रणव पुरुष के धर्म अर्थ काम मोक्षरूप सम्पूर्ण पदार्थों की प्राप्ति का हेतु है—यह बात कही गई है । इस प्रणव का अर्थ अति गूढ़ है, तथा स्त्री शूद्र आदि का इस में अधिकार भी नहीं है, अतएव यह असाधारण है इसलिये सर्वसाधारण के उपयोगी भगवान् के वाचक प्रसिद्ध पदों को जप के लिये कहते हुए गन्धर्वराज स्तुति करते हैं:—

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहां-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम् ।

अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रविहितनमस्योऽस्मि भवते ॥२८॥

भव इत्यादि । हे शरण्द, हे देव इदं यदभिधानाष्टकं नामाष्टकं अमुष्मिन्नभिधानाष्टके विषये प्रत्येकमेकैकशः । प्रतिनामेति यावत् श्रुतिर्वेदः प्रविचरति प्रकर्षेण बोधकतया चरति । वर्तत इत्यर्थः । अपिशब्दात्स्मृति-पुराणागमादिकमपि । अथवा प्रणव इवामुष्मिन्नपि श्रुतिः प्रविचरतीति योज्यम् । यद्यप्यष्टाध्यायार्थकाण्डे वह्निनामत्वेनैतानि समाम्नातानि तथापि वह्नेर्भगवद्विभूतित्वात्तन्नामत्वेऽपि न भगवन्नामत्वव्याघातः । यद्वा अमुष्मिन्ना-माष्टके देवानां ब्रह्मादीनामपि श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं प्रविचरति सावधानतया वर्तते । देवा अपि त्वन्नामश्रवणोत्सुकाः किं पुनरन्य इत्यर्थः । किं तन्ना-माष्टकमित्यत आह । भव इत्यादि । महता महच्छब्देन सह वर्तत इति सहमहान्महादेवः तथैवागमप्रसिद्धः । इतिशब्दः समाप्त्यर्थः । यस्य च नाम-मात्रमपि सर्वपुरुषार्थप्रदं स पुनः स्वयं कीदृश इति भक्त्युद्रेकेण प्रणमति । प्रियायेत्यादिना । अस्मै स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन सर्वदा परोक्षाय भवते महेश्वराय । कीदृशाय । धाम्ने सर्वेषां शरणभूताय चिद्रूपायेति वा । योग्य-मुपचारं किमपि कर्तुमशक्नुवन्नहं केवलं प्रविहितनमस्योऽस्मि प्रकर्षेण वाङ्मनः-कायव्यापारातिशयेन विहिता नमस्या नमस्क्रिया येन स तथा । (केवलं तुभ्यं कृतनमस्कारो भवामीत्यर्थः ।) प्रणिहितेति पाठेऽप्येवमेवार्थः ।

हे शरण्द! हे देव! यह जो 'नामाष्टक' है, इस नामाष्टक में से प्रत्येक नाम को वेद भी बड़े जोर से बोधन करता है। 'अपि' (भी) शब्द से स्मृति पुराण आदि शास्त्रों को भी ग्रहण करना चाहिए अथवा जैसे श्रुति 'प्रणव' का बोधन करती है ऐसे ही इन आठो नामों को भी बोधन करती है। यद्यपि अष्टाध्यायकाण्ड (ऋग्वेद) में इन को अग्नि के नाम कह कर उपदेश किया गया है तथापि यतः अग्नि भगवान् की विभूतिरूप है अतः अग्नि के नाम होने से

भी भगवान् के नाम होने में कोई विरोध नहीं है । यद्वा इस नामाष्टक को श्रवण करने के लिये देवताओं के कान भी सावधान रहते हैं, अर्थात् देवता भी आपके नाम को श्रवण करने के लिये उत्सुक रहते हैं तब औरों की तो कथा ही क्या है !

वह नामाष्टक क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं 'भवः' इत्यादि । भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, सहमहान् (महादेव), भीम और ईशान्, जो महान् शब्द से युक्त हो उसे 'सहमहान्' कहते हैं, ऐसा ही शैवागम से प्रसिद्ध है । इति शब्द समाप्ति के अर्थ में है । जिसका नाममात्र ही सर्व पुरुषार्थों का देने वाला है वह स्वयं कैसा होगा ! इस प्रकार अत्यन्त भक्ति से गन्धर्वराज प्रणाम करते हैं— प्रियाय इत्यादि से । इस स्वप्रकाश चैतन्यरूप सर्वदा अपरोक्ष सब के शरणभूत चिद्रूप महेश्वर के लिये किसी योग्य उपचार (सेवा आदि) के करने की शक्ति न रखता हुआ मैं मन, वाणी और शरीर से केवल नमस्कार ही करता हूँ ।

हरपक्षेऽप्येवम् । भवादीनां च हरिनामत्वं योगवृत्त्या संभवत्येव सहस्रनामस्तुतिपठितत्वाच्चेति द्रष्टव्यम् । अथवा यदिदमभिधानाष्टकं अमुष्मिन्प्रत्येकं देवश्रुतिरपि देवशब्दोऽपि प्रविचरति संबद्धो भवति । तथा च भवदेव इत्यादिरूपं तव रहस्यनामाष्टकमित्यर्थः । तथाच भवस्य रुद्रस्यापि देव आराध्य इत्यर्थः । एवमन्येष्वपि नामसु द्रष्टव्यम् ॥२८॥

हरिपक्ष में भी ऐसा ही अर्थ है । भव आदि पद योगवृत्ति से श्री हरि के भी नाम हो सकते हैं और 'सहस्रनाम' स्तोत्र में पढ़े भी गये हैं, अथवा यह जो आप के आठ नाम हैं, उनमें से प्रत्येक के साथ 'देव' शब्द का भी सम्बन्ध है, तथा च भवदेव शर्वदेव इत्यादि रूप वाले आप के गुह्य आठ नाम हैं, इस प्रकार आप भव (रुद्र) के भी देव (आराध्य) हैं—यह अर्थ है, ऐसे ही और और नामों के विषय में भी जानना चाहिए ॥ २८ ॥

एवं जातभक्त्युद्रेको नमस्कारमेवानुवर्तयन्दुरूहमहिमत्वेन भगवन्तं स्तौति—

अब अत्यन्त भक्ति से युक्त होकर अतिगूढ़ महिमा से युक्त भगवान् की श्रीगन्धर्वराज स्तुति करते हैं:—

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः ।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमितिसर्वाय च नमः ॥२९॥

नम इति । हे प्रियदव अभीष्टनिर्जनवनविहार, ते तुभ्यं नेदिष्ठायात्यन्तनिकटवर्तिने, दविष्ठायात्यन्तदूरवर्तिने च नमोनमः । हे स्मरहर कामान्तक, क्षोदिष्ठाय क्षुद्रतराय महिष्ठाय महत्तराय च तुभ्यं नमोनमः । तथा हे त्रिनयन त्रिनेत्र, वर्षिष्ठाय अतिवृद्धाय वृद्धतरायेति वा यविष्ठाय युवतमाय च तुभ्यं नमोनमः । एवमत्यन्तविरुद्धस्वभावस्याल्पबुद्धिभिः कथमपि स्वरूपनिर्णयासंभवात्सर्वदा नमस्कार एव करणीय इति प्रदर्शनाय नमस्कारशब्दावृत्तिः । तथाच श्रुतिः—'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च' 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेनाञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' इत्यादि । तथा किंबहुना सर्वस्मै सर्वरूपाय तुभ्यं नमः । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति श्रुतेः । ननु तर्हि सर्वविकाराभिन्नत्वाद्विनाशित्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य, सर्वस्याध्यस्तत्वेन वास्तवाभेदाभावात्सर्वबाधाधिष्ठानत्वेन च श्रुतिषु सामानाधिकरण्येन व्यपदेशादद्वितीयस्य ब्रह्मणो न विकारगन्धोऽपि संभाव्यत इत्यभिप्रायेण नमस्कुर्वन्नाह—तदिदमिति सर्वाय च नम इति । तत्परोक्षमिदमपरोक्षमित्यनेन प्रकारेणानिर्वाच्यं सर्वं यत्र स तदिदमितिसर्वस्तस्मै । बहुव्रीहावन्यपदार्थप्रधानत्वान्न सर्वनामता । तेन सर्वाधिष्ठानभूताय तुभ्यं नम इत्यर्थः । हरिपक्षेप्येवम् । केवलं संबोधनत्रयमन्यथा व्याख्येयम् । प्रियाणि वैषयिकसुखानि वैराग्योद्बोधेन दुनोति नाशयतीति

प्रियदवः । तथाच स्मरो वासना तं हरति स्वभक्त्युद्रेकेणेति स्मरहरः । तथा त्रयाणां लोकानां नयनवत्सर्वार्थावभासकस्त्रिनयन इति प्रागपि व्याख्यातम् ॥ २९ ॥

हे प्रियदव ! (प्रिय है निर्जन वन में विहार जिसे, ऐसे हे अभीष्ट-निर्जनवनविहार महादेव !) अत्यन्त निकटवर्ती और अत्यन्त दूरवर्ती आप के प्रति नमोनमः (बार बार नमस्कार) है । हे स्मरहर ! (काम के नष्ट करने वाले) अत्यन्त क्षुद्र (लघु) और अत्यन्त महान् आपके प्रति (बार बार) नमस्कार है । तथा हे त्रिनयन ! अतिवृद्ध और अतियुवा आपको नमोनमः है । इस प्रकार अत्यन्त विरुद्धस्वभाव वाले महेश्वर के स्वरूप का निर्णय करना अल्पबुद्धि पुरुषों के लिये किसी प्रकार भी संभव नहीं है, अतः सर्वदा नमस्कार ही करना चाहिये, यह भाव दिखाने के लिये नमस्कार शब्द की आवृत्ति है। ऐसे ही श्रुति में कहा है "वह परमात्मा दूर से दूर और समीप से समीप है ।" वह आत्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है । तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है अथवा तू कुमारी है । तू बूढ़ा है, दण्ड के सहारे गमन करता है और तू ही जन्म लेकर विश्वतोमुख हो रहा है इत्यादि ।" तथा बहुत क्या कहें "यह सर्वसंसार आत्मस्वरूप है" इस श्रुत्यनुसार सर्व रूप वाले आप के लिये नमस्कार है । (शङ्का) यदि ऐसा है तो सर्व विकारों से अभिन्न होने के कारण आत्मा पर विनाशित्व दोष का प्रसङ्ग होगा ! (समाधान) नहीं, सर्व वस्तु आत्मा में अध्यस्त है अतः वास्तव अभेद नहीं है, और श्रुतियों में सामानाधिकरण्य से व्यपदेश (व्यवहार) तो सर्व जगत् के बाध का अधिष्ठान होने के कारण है अतः अद्वितीय ब्रह्म में विकार के गन्ध की भी सम्भावना नहीं है, (क्योंकि कल्पित सर्प से रज्जु के वास्तविक स्वरूप में कोई भी परिवर्त्तन नहीं होता है) इस अभिप्राय से नमस्कार करते हुए गन्धर्वराज कहते हैं

"तदिदमितिसर्वाय च नमः" इति । परोक्ष और अपरोक्ष आदि सर्व प्रकार से अनिर्वचनीय सम्पूर्ण संसार जिस में अध्यस्त है उस अधिष्ठानस्वरूप आप के लिये नमस्कार है । यहाँ बहुव्रीहिसमास के अन्यपदार्थप्रधान होने के कारण सर्वशब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई ।

हरिपक्ष में भी ऐसा ही अर्थ है, केवल सम्बोधनत्रय का अन्यथा व्याख्यान करना चाहिए, जैसे 'प्रिय' विषयजन्य सुखों को वैराग्यबोधन द्वारा नष्ट करते हैं अतः श्रीहरिनारायण का नाम 'प्रियदव' है । तथा 'स्मर' वासनाओं को स्वभक्ति के उद्रेक (आधिक्य) से हरण करते हैं अतः भगवान् का नाम 'स्मरहर' है । तथा नयनवत् सर्व वस्तुओं (तीनों लोकों) के प्रकाशक होने से हरि 'त्रिनयन' हैं—इत्यादि पहले भी व्याख्यान कर चुके हैं ।।२९।।

अधुना पूर्वोक्तसर्वार्थसंक्षेपेण नमस्कुर्वन्स्तुतिमुपसंहरति—

अब पूर्वोक्त सर्व अर्थ के संक्षेप से नमस्कार करते हुए गन्धर्वराज स्तुति का उपसंहार करते हैं:—

बहुलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमोनमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमोनमः ।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमोनमः
प्रमहसिपदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमोनमः ।।३०।।

बहलेति । विश्वोत्पत्तौ विश्वोत्पत्तिनिमित्तं बहलं तमःसत्वाभ्यामधिकं रजो यस्य तस्मै उद्रिक्तरजसे भवत्यस्माज्जगदिति भवो ब्रह्ममूर्तिस्तस्मै तुभ्यं नमोनमः । तथा तत्संहारे तस्य विश्वस्य संहारनिमित्तं प्रबलं सत्वरजोभ्यामनभिभूतमुद्रिक्तं तमो यस्य तस्मै हरतीति हरो रुद्रमूर्तिस्तस्मै नमोनमः ।

तथा जनानां सुखकृते सुखनिमित्तम् । कृतशब्दोऽव्ययो निमित्तवाची । सत्त्वस्योद्रिक्तावुद्रेके रजस्तमोभ्यामाधिक्ये स्थितायेत्यर्थाल्लभ्यते । 'सत्त्वोद्रेके' इति वा पाठः । अथवा सत्त्वोद्रिक्तौ सत्यां जनानां सुखं करोतीति जनसुखकृत्तस्मै । यद्वा सुखस्य कृतं करणम् । भावे क्तः । तस्मिन् तन्निमित्तम् । एवं व्याख्याने प्रक्रमभङ्गदोषो न भवति पूर्वपर्यायद्वये उत्तरपर्याये च सप्तम्यन्तनिमित्तनिर्देशात् । मृडयति सुखयति मृडो विष्णुस्तस्मै । पालनस्यैवोद्देश्यत्वात्क्रमभङ्गेन पश्चान्निर्देशः । एवं गुणत्रयोपाधीन्नत्वा निर्गुणं प्रणमति । प्रमहसिपदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमोनमः निर्गतं त्रैगुण्यं यस्मात्तन्निस्त्रैगुण्यं तस्मिन्पदे पदनीये तत्पदप्राप्तिनिमित्तम् । कीदृशे । प्रमहसि प्रकृष्टं माययानभिभूतं महो ज्योतिर्यस्मिन्नतथा । सर्वोत्तमप्रकाशरूपत्रिगुणशून्यमोक्षनिमित्तमित्यर्थः । शिवाय निस्त्रैगुण्यमङ्गलस्वरूपाय 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इति श्रुतेः । प्रमहसि पदे स्थितायेति वा । हरिपक्षेप्येवम् ॥ ३० ॥

जगत् की उत्पत्ति के निमित्त रजोगुणप्रधान ब्रह्ममूर्त्ति आपके प्रति बार बार नमस्कार है। तथा संसार के संहार के अर्थ तमःप्रधान रुद्रमूर्त्ति आपको बार बार नमस्कार है। तथा प्राणियों के सुख के निमित्त सत्त्वगुणप्रधान विष्णुमूर्त्ति आपको बार बार नमस्कार है, या सत्त्वगुण की वृद्धि के समय प्राणियों के सुखकर आपको नमस्कार है, अथवा जीवों के सुख के करने के निमित्त सत्त्वप्रधान विष्णुरूप आपको नमस्कार है। ऐसा व्याख्यान करने से प्रक्रमभङ्गरूप दोष नहीं है क्योंकि पूर्व दोनों पर्य्यायों में और उत्तरपर्याय में सप्तम्यन्त से निमित्त का निर्देश किया गया है। पालन के ही उद्देश्य होने के कारण क्रमभङ्ग करके पालन का पश्चात् निर्देश किया गया है एवं गुणत्रयरूप उपाधि से युक्त परमात्मा को नमस्कार कर के निर्गुण को प्रणाम करते हैं। त्रिगुणातीत सर्वोत्तम प्रकाशस्वरूप पद (मोक्ष) की प्राप्ति के निमित्त शिवमूर्त्ति 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते'। इस श्रुति के अनुसार निस्त्रैगुण्य मङ्गल-

स्वरूप आपको बार बार नमस्कार है। हरि पक्ष में भी यही अर्थ है ॥ ३० ॥

एवमस्तुत्यरूपेणैव भगवन्तं स्तुत्वा स्वस्यौद्धत्यपरिहारं 'ममत्वेतां वाणीम्' इत्यत्रोपक्रान्तमुपसंहरन्नाह—

इस प्रकार अस्तुत्य स्वरूप (स्तुति का अविषयत्वरूप) से भगवान् की स्तुति करके "मम त्वेतां वाणीम्" इत्यादि से आरम्भ किये हुए अपने "औद्धत्यपरिहार" का उपसंहार करते हुए यक्ष-राज कहते हैं:—

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः ।
इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधा-
द्वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥ ३१ ॥

हे वरद सर्वाभीष्टदेत्युपसंहारे योग्यं संबोधनम् । तव पादयोर्मद्वाक्यपुष्पोपहारं भक्तिराधात् त्वद्विषया रतिरर्पितवती । यथा पुष्पाणि मधुकरेभ्यः स्वमकरन्दं प्रयच्छन्त्यन्येषामपि दूरात् गन्धमात्रेण प्रमोदमादधति तथैतानि स्तुतिरूपाणि वाक्यानि भक्तिरसिकेभ्यो भगवन्माहात्म्यवर्णनामृतरसं प्रयच्छन्त्यन्येषामपि श्रवणमात्रेणापि वस्तुस्वाभाव्यात्सुखविशेषमादधतीति ध्वनयितुं ज्ञापयितुं वाक्पुष्पत्वेन निरूपितम् । तथा च वाक्यान्येव पुष्पाणि तैरुपहारः पूजार्थमञ्जलिस्तमित्यर्थः । किं कृत्वा आधादित्यनेन हेतुना चकितं भीतं स्तुतेर्निवर्तमानं माममन्दीकृत्य न मन्दममन्दं कृत्वा । बलात्स्तुतौ प्रवर्त्येत्यर्थः । तथा चान्यमत्या प्रवृत्तस्य मम स्खलितेऽपि क्षन्तव्यमित्यभिप्रायः । इतिशब्देन सूचितं भयकारणमाह—कृशेत्यादिना । कृशा अल्पा परिणतिः परिपाको यस्य तत्तथा । अल्पविषयमित्यर्थः । तादृशं मम चेतश्चित्तं ज्ञानं

वा । तथा क्लेशानामविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां वश्यमायत्तम् । सर्वदा रागद्वेषादिदोषसहस्रकलुषितमित्यर्थः । क्लेशेनातिप्रयत्नेन वश्यमिति वा तेन त्वद्गुणवर्णनेऽत्यन्तायोग्यमित्यर्थः । गुणानां सीमा संख्यापरिमाणयोरियत्ता तामुल्लङ्घयितुं शीलं यस्याः सा गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वद्भिः नित्या विभूतिः । तेनैतादृशदुर्वासनासहस्रकलुषितमित्यल्पविषयं मम मनः क्व, अनन्ता नित्या तव परमा विभूतिर्वा क्व इत्यत्यन्तासंभावना मम भयहेतुरित्यर्थः । एतदवधारणे च तव भक्तिरेव कारणमिति भक्तेरत्यन्तासंभावितफलदानेऽपि सामर्थ्यं दर्शयति । यस्मादेवं तस्मात्सर्वापराधानविगणय्य परमकारुणिकेन त्वया त्वद्विषया भक्तिरेव ममोद्दीपनीयेति वाक्यतात्पर्यार्थः ॥३१॥

हे वरद ! (सर्व अभीष्ट पदार्थों के देने वाले ! उपसंहार में ऐसा संबोधन योग्य ही है) आपके चरणों में मेरे वाक्यरूप पुष्पों के उपहार को 'भक्ति' (आप के विषय में प्रीति) ने ही अर्पण किया है (अर्थात् पूर्वोक्त स्तुति मैंने नहीं की किन्तु मेरे हृदय में आप के विषय में जो भक्ति है उस भक्ति ने ही आपकी वह स्तुति की है !) । जैसे पुष्प, भ्रमरों को अपना मकरन्द (पुष्परस) प्रदान करते हैं और दूसरों को भी दूर से अपने गन्धमात्र से प्रमुदित करते हैं ऐसे ही यह स्तुतिरूप वाक्य भी भक्तिरसिक पुरुषों को "भगवान् का माहात्म्यवर्णनामृतरूप रस" प्रदान करते हैं, और दूसरों का भी श्रवणमात्र से ही सुखविशेष करते हैं—इस बात को जताने के लिये वाक्यों को पुष्परूप से वर्णन किया गया है । उस भक्ति ने आपसे यह स्तुति क्या करके करवाई ? इसके समाधान में कहते हैं कि जब मैं चकित (भयभीत) होकर स्तुति से हटने लगा तो भक्ति ने मुझ मन्द को अमन्द करके (अर्थात् बलात् से स्तुति में प्रवृत्त करके) यह स्तुति करवा ली । तथा च अन्य की मति से प्रवृत्त हुए मुझ भक्त के स्खलित (अशुद्धि) को आप क्षमा करें—यह अभिप्राय है । इति शब्द से सूचित भय के कारण को यक्षराज कहते हैं —

क्लेशेत्यादि, मेरा चित्त या ज्ञान अल्प विषय वाला है (परिच्छिन्न घट पट आदि थोड़े से पदार्थों के विषय में ही चिन्तन करने का थोड़ा सा ही सामर्थ्य रखता है) और सदा अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेष नामक क्लेषों के वश में रहता है अर्थात् सर्वदा रागद्वेष आदि सहस्रों दोषों से मलीन रहता है। अथवा बड़े क्लेश से वश में होता है, इसलिये आपके गुण वर्णन में अत्यन्त असमर्थ है । और आपकी नित्या विभूति 'गुणोंकी संख्या और परिमाण की इयत्ता को' उल्लङ्घन किये हुए है, अतः उपर्युक्त अनन्त दुर्वासनाओं से दूषित और अल्पविषयक कहां यह मेरा मन और कहां अनन्त तथा नित्य आप की वह परमा विभूति ! इस प्रकार की अत्यन्त असम्भावना ही मेरे भय का हेतु है। इस पूर्वोक्त निश्चय में भी आपकी भक्ति ही कारण है—इस प्रकार भक्ति में अत्यन्त असम्भावितफलप्रदान की शक्ति है-यह भाव गन्धर्वराज इस पद्य से प्रकाशन करते हैं । जब ऐसी दशा है तब सम्पूर्ण अपराधों की गणना न करके परम कारुणिक आप स्वविषयक मेरी भक्ति को ही उद्दीपन (वर्धन) करें-यह वाक्य का तात्पर्य है ॥३१॥

श्रीमदाचार्य्य श्री मधुसूदन सरस्वती महाराज ने ३२ से ३६ तक के पद्यों को सुगम जान कर संस्कृत भाषा में उनकी टीका नहीं की है तथापि संस्कृतभाषानभिज्ञ पाठकों के हितार्थ हिन्दी भाषा में हमने उनका व्याख्यान कर दिया है ।

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सार्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥३२॥

समुद्ररूप पात्र (दवात) में काले पर्वत के तुल्य कज्जल (स्याही) हो, सुरतरु वर (कल्पवृक्ष) की शाखा की लेखनी हो, पृथिवीरूप पत्र हो, और शारदा (सरस्वती देवी) यदि सर्व समय लिखती रहे तो भी हे ईश ! वह तेरे गुणों का पार न पावेगी ॥३२॥

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-
र्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य ।
सकलगणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो
रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार ॥३३॥

असुर, सुर और मुनीन्द्रों से पूजित, चन्द्रभाल, "ग्रथितगुण-महिम्नः" (जिन के गुणों की महिमा यहां रचना की गई है उस) निर्गुण ईश्वर के इस स्तोत्र को सकलगणों में श्रेष्ठ पुष्पदन्त नामक यक्ष ने छोटे छोटे शिखरिणी आदि छन्दों में सुन्दरतापूर्वक रचना किया है ॥३३॥

अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेत-
त्पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान्यः ।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथाऽत्र
प्रचुरतरधनायुःपुत्रवान्कीर्तिमांश्च ॥३४॥

जो शुद्धचित्त पुरुष धूर्जटि (महादेव) के इस पुण्य स्तोत्र का परम भक्तिपूर्वक प्रतिदिन पाठ करता है वह शिवलोक में रुद्र के तुल्य होता है और इसलोक के प्रचुरतर (अत्यधिक) धन, आयु, पुत्र और कीर्ति को प्राप्त होता है ॥३४॥

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः ।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ॥३५॥

महादेव से बढ़ कर दूसरा देव नहीं है। महिम्न से बढ़ कर दूसरी स्तुति नहीं है। अघोर से बढ़ कर अन्य मन्त्र नहीं है और गुरु से बढ़ कर अन्य तत्त्व (ब्रह्म) नहीं है ॥३५॥

दीक्षा दानं तपस्तीर्थं ज्ञानं यागादिकाः क्रियाः ।
महिम्नस्तवपाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥३६॥

दीक्षा, दान, तप, तीर्थ, ज्ञान, और याग आदिक क्रियाएँ महिम्नस्तोत्र' के पाठ की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं हैं ॥ ३६ ॥

यह (३२ से ३६ तक) श्लोक स्तोत्र के अन्तर्गत हैं और सुगम हैं—इति सर्वं भद्रम ॥

हरिशङ्करयोरभेदबोधो भवतु क्षुद्रधियामपीति यत्नात् ।
उभयार्थतया मयेदमुक्तं सुधियः साधुतयैव शोधयन्तु ॥ १ ॥

क्षुद्र बुद्धि वाले पुरुषों को भी हरि और शङ्कर के विषय में अभेदबोध हो जाय इस बुद्धि से मैं (मधुसूदन) ने यत्नपूर्वक इस स्तोत्र का अर्थ दोनों के विषय में व्याख्यान किया, सुन्दरबुद्धि वाले पुरुष साधुभाव से ही इसका शोधन करें ॥ १ ॥

यत्नतो वक्रया रीत्या कर्तुं शक्यं विधान्तरम् ।
यद्यपीह तथाप्येष ऋजुरध्वा प्रदर्शितः ॥ २ ॥

यद्यपि यहाँ यत्न करने से वक्ररीति से अन्य प्रकार का अर्थ भी किजा जा सकता है, तथापि यह सीधा मार्ग दिखाया गया है ॥ २ ॥

श्लोकानुपात्तमिह न प्रसङ्गात्किंचिदीरितम् ।
श्लोकोपात्तमपि स्तोकैरक्षरैः प्रतिपादितम् ॥ ३ ॥

जो अर्थ श्लोक में नहीं है उसका प्रसङ्ग से कुछ भी इस टीका

में कथन नहीं किया गया है। और श्लोक में संगृहीत पदार्थ भी अल्प अक्षरों से ही प्रतिपादन किया गया है ॥ ३ ॥

महिम्नाख्यस्तुतेर्व्याख्या प्रतिवाक्यं मनोहरा ।
इयं श्रीमद्गुरोः पादपद्मयोरर्पिता मया ॥ ४ ॥

'महिम्न' नामक स्तुति की प्रत्येक वाक्य में मनोहर इस व्याख्या को मैं (मधुसूदन) ने श्री मद्गुरु के चरणकमलों में अर्पण किया ॥ ४ ॥

टीकान्तरं कश्चन मन्दधीरितः सारं समुद्धृत्य करोति चेत्तदा ।
शिवस्य विष्णोर्द्विजगोसुपर्वणामपि द्विषद्भावमसौ प्रपद्यते ॥ ५ ॥

यदि कोई मन्दधी इस टीका में से सार को लेकर टीकान्तर-बनायेगा तो वह शिव, विष्णु, ब्राह्मण, गौ और देवताओं के द्विषद्भाव (द्वेष) को प्राप्त होगा ! अर्थात् इनका द्रोही समझा जायगा ॥५॥

भूतिभूषितदेहाय द्विजराजेन राजते ।
एकात्मने नमो नित्यं हरये च हराय च ॥ ६ ॥

भूति (श्मशान-भस्म और अष्टविध ऐश्वर्य्य) से जिसका देह अलङ्कृत है, जो द्विजराज (चन्द्र और शेषनाग) के साथ विराजमान है, उस एकात्मा हरि और हर के प्रति नित्य नमस्कार है॥६॥

इति श्रीमत्परमहंस श्रीमद्विश्वेश्वरसरस्वतीचरणारविन्दमधुप-श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचिता महिम्नस्तुतिव्याख्या सम्पूर्णा ॥

आगे लिखे गये श्लोक यद्यपि स्तोत्र के अन्तर्गत नहीं हैं तथापि लोकपाठ का अनुसरण करके अर्थसहित उनका संग्रह किया जाता है। '

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः
शिशुशशिधरमौलेर्देवदेवस्य दासः ।

स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषा-
त्स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः ॥३७॥

कुसुमदशन (पुष्पदन्त) नामक सर्व गन्धर्वों का राजा शिशुशशिधरमौली (बालचन्द्रभाल) देव देव (महादेव) का दास (भक्त) था वह अपनी अन्तर्धान आदि महिमा (ऐश्वर्य्य) से इन्हीं (महादेवजी) के रोष से भ्रष्ट हो गया था, अतः इन्हीं महादेवजी को प्रसन्न करने के लिये दिव्य दिव्य (अत्यन्तदिव्य=रसभावादिप्रकर्षोज्वल) महिम्ननामकस्तव की उसने रचना की ॥ ३७ ॥

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुं
पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलिर्नान्यचेताः ।
व्रजति शिवसमीपं किंनरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ॥३८॥

श्रीपुष्पदन्तप्रणीत, अमोघ (अवश्य फल देने वाले), सुरवर (इन्द्र) और ऋषियों के पूज्य, स्वर्ग और मोक्ष के साधन इस स्तोत्र का जो पुरुष अनन्यचित्त होकर और हाथ जोड़ कर पाठ करता है वह किंनरों से स्तूयमान होकर शिव के समीप प्राप्त होता है; अर्थात् किंनर लोग उसकी स्तुति करते हुए उसे शिवजी के समीप ले जाते हैं ॥ ३८ ॥

आसमाप्तमिदं स्तोत्रं पुण्यं गन्धर्वभाषितम् ।
अनौपम्यं मनोहारि शिवमीश्वरवर्णनम् ॥३९॥

गन्धर्वराज से भाषित यह स्तोत्र समाप्तिपर्यन्त पुण्य अनुपम मनोहारी शिव (मङ्गलकर) और ईश्वरवर्णन (स्तुति) रूप है, या उपर्युक्त गुणविशिष्ट यह स्तोत्र 'असमाप्तम्' समाप्त हुआ ॥३९॥

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छंकरपादयोः ।
अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः ॥४०॥

इस शब्दरूप पूजा को श्रीमत् शङ्कर के चरणों में अर्पण कर दिया, इस समर्पण से देवों के ईश्वर सदाशिव मुझ पर प्रसन्न हों ॥४०॥

तव तत्त्वं न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर ।
यादृशोऽसि महादेव तादृशाय नमो नमः ॥४१॥

हे महेश्वर ! आप कैसे हैं—इत्यादि आपके तत्त्व को मैं नहीं जानता हूँ, हे महादेव ! आप जैसे हैं वैसे ही आप को नमस्कार है ॥ ४१ ॥

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं यः पठेन्नरः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोके महीयते ॥४२॥

एक काल, दो काल अथवा तीन काल जो नर इसका पाठ करता है वह सर्वपाप से विनिर्मुक्त होकर शिवलोक में पूजा को प्राप्त होता है ॥४२॥

श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्विषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ॥४३॥

श्रीपुष्पदन्त के मुखकमल से निकले हुए पाप के हरने वाले, महादेवजी के प्रिय, कण्ठस्थित (कण्ठाग्र), या पढ़े गये अथवा मनन किये गये इस स्तोत्र से भूतपति महेश बहुत प्रसन्न होते हैं ॥ ४३ ॥

इति पुष्पदन्तविरचितं शिवमहिम्नस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥
शुभं भूयात ॥